पुस्तकके गहन विषयको सरल और स्पष्ट करनेकी मैंने भरसक कोशिश की है, किन्तु उसमें कितनी सफलता हुई है, इसके प्रमाण पाठक ही हो सकते हैं।

अपने विषयके प्रतिपादनमें मुझे दूसरे विरोधी मतोंकी आलोचना करनी पड़ी है, जिसके लिये मैं मजबूर था; सम्भव है किसीको इससे दुःख हो, जिसके लिये मुझे खेद होगा; मैंने तो "वादे-वादे जायते तत्त्व-बोधः" की उक्तिको सामने रखकर वैसा किया है।

जिन ग्रंथोंसे मैंने सहायता ली, उनकी सूची मैं अलग दे रहा हूँ; लेकिन इतना ही कर देनेसे मैं अपना कर्त्तव्य पूरा नहीं समझता। मैं समझता हूँ, इस पुस्तकके लिखनेका सारा श्रेय इन्हीं ग्रंथकारोंको मिलना चाहिये, मैंने तो मधुमक्खीकी भाँति मधु-संग्रह मात्र किया है, असली धन तो उन्हींका है।

मुझे एक बार विश्वास होने लगा था, कि तीसरा ग्रंथ (दर्शन-दिग्दर्शन) ही यदि समाप्त हो जाय तो गनीमत समझना चाहिये; किन्तु उसके समाप्त करते ही (११-३-४२) मैंने तै कर लिया, कि वर्त्तमान ग्रंथ को लिखना शुरू कर देना होगा, और अपनेको "गृहीत इव केशेषु मृत्युना" समझते इसे आज समाप्त कर सका हूँ।

सेंट्रल जेल, हजारीबाग
२४-३-४२

राहुल सांकृत्यायन

वैशेषिक रूप, रस आदि गुणों द्वारा ही भूतोंकी वास्तविकता (द्रव्यता) मानता है ।—पृथिवी वह है, जो गंधवाली होते गुणवाली है । यहाँ यह कहनेकी अवश्यकता नहीं है कि गुणकी वास्तविकता मानने के कारण ही वैशेषिक विकसित होकर पदार्थ-विज्ञान या साइंसके रूपमें परिणत नहीं हो सका ; और विस्तार और भारको भूतका वास्तविक स्वरूप माननेवाली यूरोपीय विचार-परंपरा नित्य नव-विकासवाले आधुनिक साइंसके रूपमें परिणत हो गयी ।

यद्यपि साइंस-विस्तार और भारके रूपमें *भूतको* देखता है ; किन्तु उनमें भी वह, जहाँ तक उसकी इन्द्रिय-गोचरताका संबंध है, भारको प्रधानता देता है—

"बाहरी जगत् (भौतिक तत्त्वों) का ज्ञान उन कम्पनों (अतएव दबावों) से होता है, जिनको लेते वक्त दस लाखसे ऊपर ज्ञान-तंतुओंके झटके हमारे मस्तिष्क और रीढ़के भीतरके तन्तु-गुच्छकोंमें पहुँचते हैं ; उन गुणात्मक 'झटकों' पर (वह ज्ञान निर्भर) नहीं है। परिमाण-का गुणमें और गुणका परिमाणमें परिवर्तन (जिसके द्वारा कि हम किसी पदार्थको इन्द्रिय-गोचर करते हैं) मस्तिष्कमें होता है ; जगत्का जो ज्ञान हमें होता है, यही परिवर्त्तन उसमें मुख्य साधन है ।" १

गुण (गंध, रूप आदि) कैसे परिमाण (भार आदि) में परि-वर्तित होते हैं ?—प्रकृतिका स्वभाव ही ऐसा है, उसमें गुणात्मक परिवर्तन—स्वरूपमें मौलिक परिवर्तन—होना बराबर देखा जाता है ; जिसे कि हम आगे कहनेवाले हैं । वैज्ञानिक भौतिकवाद गुण और परि-माण दोनोंको वास्तविक जगत्का स्वभाव (आसानीके लिये गुण कह लीजिये) मानता है ।

---

1 The Marxist Philosophy and Sciences (by J. B. S. Haldane, 1938) p. 32-33.

सत्ता, चूँकि सापेक्ष—अन्योन्याश्रित—है, इसलिये ऐसी सत्तासे इन्कारी हो सब कुछ शून्य (अभाव) का प्रतिपादन किया। असंगने अफलातूँके विज्ञानमय जगत्में बौद्ध दर्शनके क्षणिकवादकी पुट दे भौतिक जगत्के 'ठोसपन' को ध्वस्त किया। शंकर और रोश्दने पहलेहीके भौतिकवाद-विरोधियोंका चर्वित-चर्वण किया। लेकिन, क्या इन बड़े-बड़े दिमागोंके छब्बीस सौ वर्षोंके प्रयत्नसे 'ठोस' जगत् खतम हो गया?—नहीं, बिल्कुल नहीं। यही नहीं, याज्ञवल्क्य, अफलातूँ, नागार्जुन, असंग, शंकर और रोश्दने अपने मतको स्वयं अपने आचरण-द्वारा झूठा साबित किया।—वास्तविक जगत्की सत्ता यदि वस्तुतः नहीं है, तो भूख भी कोई चीज नहीं, और भूख मिटानेके लिये यदि अफलातूँ या शंकरने थालीकी ओर अपने पाँच सेरके हाथको बढ़ाया, तो खुद अपने आचरणसे अपने मतका खंडन किया।

खैर, इन पुराने भौतिकवाद-विरोधी दार्शनिकों तथा उनके आधुनिक वंशजोंको छोड़िये, आज ऐसे कोरे तर्कवादोंका कोई महत्त्व नहीं है। लेकिन हाँ, भौतिकवादके विरोधी एक दूसरी तरहके नये लोग पैदा हुए हैं। ये लोग स्वयं वैज्ञानिक हैं, और उसी विज्ञानके अनुसंधानमें निरत हैं—जो कि निर्भर करता है भूतके अस्तित्व पर। एक बार यदि भूतके अस्तित्वसे इन्कार कर देते हैं, तो किसकी नाप-तोल, किसपर अणुवीक्षण, दूरवीक्षण, रश्मिवर्णवीक्षणका प्रयोग? किन्तु, यह भी कोई नई बात नहीं। दर्शनके इतिहासमें हम अक्सर नागार्जुन, ग़ज़ाली, श्रीहर्ष जैसे–विद्वानोंको देखते हैं, जो दर्शनकी सहायतासे दर्शनका संहार करना चाहते हैं, जैसे कि हमारे ये आधुनिक कितने ही देह या दिमागके बूढ़े वैज्ञानिक। उनके ऐसा करनेमें भी भारी रहस्य है और उसका साइंससे कोई संबंध नहीं है; किन्तु अभी उसे रहने दीजिये। आइये, देखें भूत (भौतिक) के अस्तित्वको इन्कार करनेके लिये वह युक्ति क्या देते हैं।—

"भूत नहीं है, यह साबित हो गया।"

रूप–परमाणु–माना था, वह गलत साबित हो गया। तालिमीका भूकेंद्रक विश्व गलत होनेसे 'विश्व है ही नहीं', 'सूर्य-चाँद हैं ही नहीं' यह नहीं साबित होता है ? परमेनिद और उसके दूसरे एसियातिक साथी विश्वकी गति, परिवर्तन-शीलतासे परेशान थे, वह अथाह समुद्रमें डूबते हुएकी तरह स्थिर भूमि ढूँढ़नेके लिये परेशान थे; इसलिये उन्होंने विश्वके मूल-में ठोस—परमाणु—'ढूँढ़' निकाले । परमाणु नित्य, अपरिवर्तनशील, लासानी (असदृश), एकसे, अविभाज्य, असंख्य सूक्ष्म गोलियाँ हैं। परमेनिदके भारतीय शिष्योंने षट्कोण तथा कुछ और भेदके साथ परमाणुकी उन स्थायी ईंटोंको अपने दर्शनमें ले लिया। भौतिक विज्ञानने इन गोल या षट्कोण ठोस कणोंकी सत्ताको गलत साबित कर दिया, यह ठीक है। उसने विश्वके निम्नतम तलमें विद्युत्-चुंबकीय कण-तरंग–कण भी, तरंग१ भी—को मूल तत्त्व पाया। इससे सिर्फ यही सिद्ध होता है कि *भूत* की जो व्याख्या पहले की जाती थी, वह बहुत स्थूल थी। किन्तु, साइंससे भूतका सिद्ध न होना सिद्ध हुआ, यह कहना तो साइंसका अपमान, अपनी बुद्धिका भी अपमान और दुनियाको भी सरासर बेवकूफ बनाना है।"

"लेकिन, साइंसने यह तो सिद्ध किया है कि विश्व बिल्कुल खाली—आकाश—शून्य-सा है ?"

"और उसमें शक्ति या विद्युत्-चुम्बकीय कण-तरंग भी नहीं है ?"

"है, किन्तु वह नगण्य-सा है।"

"इसलिये नहीं है ! यह तो वही बात हुई, किसीने पूछा यह जाल क्या है ? दूसरेने कहा—कुछ नहीं, धागेसे नत्थी किया हुआ भारी शून्य-आकाश। धागेकी उपेक्षा और आकाशकी महिमा गाना यह है इन नामधारी वैज्ञानिकोंका बैठे-ठाले वक्तका साइंस। मानव-बुद्धि इस भूल-भुलैयों को नहीं मान सकती। साइंस जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, भौतिक वस्तुओंके

---

१ देखिये "विश्वकी रूप-रेखा"

अथवा—

"वास्तविक जगत्—प्रकृति और (उसके) इतिहास—को उसी तरह ग्रहण करना, जैसी कि वह ऐसे हर आदमीको मालूम होती है, जो कि विज्ञानवादी (दार्शनिक) कल्पनाओंकी पूर्वधारणाओंसे मुक्त है।"१

२ प्रतिपक्षियोंके आक्षेपका उत्तर

लेकिन जरा ठहरिये, भौतिकवादकी व्याख्या उसके शत्रुओंके मुँहसे सुनिये। भारतके धर्माचार्य कहते हैं—

"जब तक जिये सुखसे जिये, ऋण करके घी (शराब ?) पिये।
देहके भस्मीभूत हो जाने पर फिर-आना कहाँ से ?" २

—अर्थात् भौतिकवादी परम पामर स्वार्थी, लोलुप, मनुष्यरूपमें मृगा है ? और यूरोपके धर्माचार्य उसे भौतिकवादी कहते हैं, जो कि—शराबी, इन्द्रियलंपट, समाजशत्रु, अहंकारी जीव है। साथ ही उनकी रायमें विज्ञानवादी (दार्शनिक) होते हैं—संयमी, जितेन्द्रिय, समाज-सुहृद्, निरहंकारी, स्वार्थत्यागी, महात्मा।

भारतमें भौतिकवादियोंके लिये यह गाली क्यों मिली, इसका पता इतिहासमें सुरक्षित नहीं—आखिर हमारे इतिहासको राजा-रानीके स्वयंवरोंसे फुर्सत हो तब न ! हाँ, यूरोपीय भौतिकवादियोंको जो गालियाँ पिछली सदीमें दी गईं, उनके लिखनेके लिये एक प्रत्यक्षदर्शी, तथा दर्शनके इतिहास-लेखकोंमें प्रसिद्ध व्यक्ति—जार्ज हेनरी लेविस् (१८१७-'७४ ई०) मौजूद था। देखिये वह क्या लिखता है—और इतिहास अकसर अपने सामान्य रूपको दुहराया करता है, यदि इस बातपर ध्यान रखें तो इससे अपने यहाँकी गालीका भी रहस्य खुल सकता है। जिस समयके बारेमें

1 Feurbach. p. 53

२ "यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः"—सर्वदर्शन-संग्रह (चार्वाकदर्शन)

हुई थी।...कंदिलाक्, दीदेरो और कबानी१ के दार्शनिक (भौतिक-वादी) विचार *कन्वेंशन* (क्रान्ति-परिषद्) के अपराधोंके जिम्मेवार ठहराये जाते थे।...जिस किसी विचारमें भौतिकवादकी गंध पाई जाती थी, उसे धर्म, सदाचार और *सर्कार*के नाशके लिये प्रयत्न करनेवाला विचार समझा जाता था। जो कोई विचार अध्यात्मवाद (विज्ञानवाद) की दिशाकी ओर जाता मालूम पड़ता था, उसका बड़े उत्साहके साथ स्वागत किया जाता था; उसका प्रचार और साधुवाद किया जाता था। (इससे) हम समझ सकते हैं कि उस पीढ़ीके (धनी लोगोंके) दिमागमें *भौतिकवादके साथ क्रान्तिका संबंध* कितना अटूट (सा जान पड़ता) था।'

भौतिकवाद-विरोधियोंके मनोभावको व्यक्त करते हुए वह कहता है२—

"उनका मुख्य उद्देश्य है (वर्तमान) सदाचार और (राज्य-) *व्यवस्था* का समर्थन करना, जिनको वह उस (भौतिकवादी) दर्शनके कारण खतरेमें पड़ा समझते हैं, क्योंकि वह उनपर प्रहार करना चाहते हैं। (उनके भाषणोंमें) लगातार (लोगोंके पुराने) पक्षपातों और जोशीले भावोंको भड़काया जाता है।···(जिससे) श्रोता सभी उच्च भावनाओंको अध्यात्मवादी (विज्ञानवादी) सिद्धान्तोंके साथ जोड़नेकी आदत डालता है, और सभी नीच भावनाओंको भौतिकवादी सिद्धान्तोंके साथ; यहाँ तक कि एक (अध्यात्मवादी) संप्रदायका उसके मस्तिष्कमें पूज्य-भावनाओंके साथ अटूट संबंध हो जाता है, और दूसरे (भौतिकवाद) का···घृणाकी भावनाओंके साथ।"

३. भौतिक-वादियोंका आदर्श

जिन लोगोंको नरपशु बनाकर यह गालियाँ सुनाई जाती थीं, उनका सबसे बड़ा अपराध दूसरा ही था; जिसे उस समाजके दो सरताज अपराधियों—मार्क्स और एन्गेल्स—के मुँहसे सुनिये ३—

---

१ देखो "दर्शन-दिग्दर्शन" २ वहीं

3 Holy Family (1845 by Marx & Engels).

भौतिकवादके लिये रात-दिन गालियाँ कोई इतिहासमें पढ़नेकी ही बातें नहीं हैं। हमारे सामने ही भौतिकवादी सोवियत् देश और उसकी सर्कारको कितनी गालियाँ पिछले २४ वर्षोंसे दी जाती थीं, यह हम सब जानते हैं—यद्यपि आज सोवियत् जनता और लालसेनाने अपनी कुर्बानियों, मृत्यु-निर्भयतासे बतला दिया है, कि भौतिकवादी किसीसे भी ज्यादा हँसी-हँसी मरना जानते हैं। फ्रांसके कमूनिस्त अद्भुत आत्मोत्सर्गका एक महान् उदाहरण हर रोज पेश कर रहे हैं। आज (मार्च, १९४२ ई०) से चन्द ही सप्ताह पहले हिटलरकी गोलीसे उड़ाये गये फ्रेंच कमूनिस्त[१] साथी गब्रील पेरीने मृत्युसे कुछ ही क्षण पहिले लिखा था[२] —

"मेरे मित्रोंको मालूम होना चाहिये कि मैं अपने उस आदर्शके प्रति (अन्ततक) सच्चा रहा हूँ, जिसे कि अपने सारे जीवनमें मैंने (अपने सामने) रखा। मेरे देशवासी जानें कि मैं इसलिए मर रहा हूँ, जिसमें कि फ्रांस जीता रहे।...अन्तिम बार मैं अपने हृदयको टटोल रहा हूँ। मैं वहाँ कोई पछतावा नहीं अनुभव करता। यदि मुझे फिर (जीवन-) आरंभ करना पड़े, तो फिर उसी पथका अनुसरण करूँगा। चंद मिनटोंमें मैं आनेवाली प्रभामयी उषाके लिये अपनी (जीवनरूपी) भेंट चढ़ाऊँगा। विदा, चिरंजीव फ्रांस !"

ग. द्वंद्ववाद

द्वंद्ववाद या द्वंद्वात्मक वाद अंग्रेजी भाषाके डायलेक्टिक्स शब्दके अर्थमें इस्तेमाल होता है। यह शब्द भी यूनानी दियो-लोग शब्दसे आया

लाक, कबानी, दा'लम्बर, लामेत्री, लाप्लास, दो'लबाख, दीदेरो, हेलवेशियो, दुप्वा, वोल्नी–फ्रेंच) के मतों के बारेमें 'दर्शन-दिग्दर्शन' को देखो।

१ कमूनिस्त दैनिक La Humanity (मानवता) के विदेश-विभागके संपादक २ रायटर लंदन ८ मार्च १९४२ ई०।

१. व्याख्या

उपरोक्त कथनपर ध्यान रखते हुए हम द्वन्द्ववादकी व्याख्या इस प्रकार कर सकते हैं। भाषणमें द्वन्द्ववाद वह प्रक्रिया (तरीका) है, जिसमें दो परस्पर विरोधी मतोंके संघर्षके बाद हम सत्य तक पहुँचते हैं। प्रकृतिमें द्वन्द्ववादका अर्थ है अपने भीतरी विरोधी स्वभावोंके द्वन्द्वसे प्रकृतिका एक तीसरे रूपमें विकसित होना—हाइड्रोजनके प्राण-पीड़क तथा आक्सीजनके प्राणदायक तत्त्वोंसे तीसरे तत्त्व–जलका निर्माण। विचार-क्षेत्रमें इस प्रक्रियाका अर्थ है, दो विरोधी विचारोंके द्वन्द्वसे तीसरे विचार पर पहुँचना। जैसे—

(१) *वाद* (यांत्रिक भौतिकवादी)—जगत् भौतिक (परमाणु-) तत्त्वमय है,क्योंकि वही इन्द्रियगोचर, तथा इन्द्रियगोचर ज्ञानद्वारा सिद्ध है।

(२) *प्रतिवाद* (विज्ञानवादी)—जगत् अभौतिक (विज्ञान-) तत्त्वमय है, क्योंकि भूतसे विलक्षण चेतनातत्व विज्ञानके मानने पर ही संभव है।

(३) *संवाद*—जगत् द्वन्द्वात्मक भौतिक तत्त्वमय है, भौतिक होनेसे वादवाली बात आजाती है, और द्वन्द्वात्मक होनेसे भूतमें नये गुणके उत्पादन करनेकी शक्ति, जिससे गुणात्मक परिवर्तन द्वारा चेतनाका पैदा होना बिल्कुल संभव है।

इसीलिये एन्गेल्सका कहना है १—

२. द्वंद्वात्मक विधिकी विशेषता

"अतिभौतिक (अध्यात्म)-शास्त्रियों के लिये वस्तुयें तथा उनकी मानसिक झलक (प्रतिबिंब)—विचार—अलग अलग हैं; उनपर एकके बाद एक तथा एक दूसरेसे अलग करके विचार करना चाहिये; (क्योंकि) वही स्थिर, ठोस एक ही बार सदाके लिये बने बनाये शोधके विषय हैं।...

---

1 Socialism : Scientific and Utopean" pp. 31,34

समझानेके लिये लेनिन्ने १६ सूत्र रचे हैं, डेविड गेस्टकी छोटी व्याख्याके साथ हम उन्हें यहाँ देते हैं। १ —

हम आमपर विचार कर रहे हैं, इस विचारके लिये 'साकार' (भौतिक) आम चाहिये यह कहनेकी अवश्यकता नहीं; किन्तु आमका स्वरूप हजारों विशेषतायें रखता है, जिन विशेषताओंके साथ कि वह 'सजीव' विश्वका अंग बना हुआ है। आमपर विचार करते वक्त हम उसकी सारी विशेषताओंको एक साथ विचारका विषय नहीं बना सकते। आममें गोलाई-मुखुई, नरमपन-कड़ापन, पीला-हरापन, मिठास-खटास, मीठी सुगंध, तीखी सुगंध, कच्चापन-पकापन सड़ापन'' और इनके सैकड़ों प्रभेद पाये जाते हैं। निश्चय ही हम सोचते-वक्त आमकी इन सारी विशेषताओंपर एक ही समय नहीं विचार सकते; इसलिये हम एक समय आमकी किसी एक विशेषता—रंग, स्वाद या गंध—को बाकी विशेषताओंसे पृथक् कर उसे विचारका विषय बनाते हैं। यह सिर्फ सुभीतेके ख्यालसे किया जाता है। किन्तु, यहाँ हमें यह ध्यान रखना है कि कोई भी विचार या चिन्तन असम्भव है, जब तक कि उसका विषय—वस्तु—न हो; और वस्तु अपनी हजारों विशेषताओं-के साथ विश्वका अभिन्न अंश है; इसलिये द्वंद्ववादी तरीकेसे सोचते वक्त हमें वस्तुओंको उसी रूपमें देखना चाहिये, जिसमें कि वह वस्तुतः है। इसीलिये लेनिन्का पहिला सूत्र—

१. प्रत्यवेक्षण (के विषय) को 'साकार' (वस्तुसत्, खुद वही वस्तु) होना चाहिये, (न कि उदाहरण या प्रतिनिधि होनेके लिये अयोग्य आकार)।

विचारकी पहिली अवस्थामें हम वस्तुको अपने दिमागमें विश्व—द्वंद्वतापूर्ण 'सजीव' विश्व—से अलग कर लेते हैं, जो कि वास्तविकता नहीं है। वास्तविकता लानेके लिये उस पृथक्कृत वस्तुको फिर उसके

1 Dialectical Materialism (by David Guest) p.p. 47-6

६. हमें इन विरोधोंके संघर्ष या प्राकट्य तथा जो इन संघर्ष आदिके साथ टकराता है, उसका परीक्षण करना चाहिये।

हरएक वस्तु अपने स्वरूपमें अनगिनत पेचीदगियोंसे भरी है। उसके बनानेवाले सारे पहलुओं और विशेषताओंकी गिनती नहीं की जा सकती। वह विश्वकी दूसरी वस्तुओंमेंसे प्रत्येकके साथ भिन्न-भिन्न प्रकारके संबंध रखती है। उसका परिज्ञान हमें तभी हो सकता है, जब कि हम उसे इन भागोंमें विभक्त— विश्लेषण)—करके देखें ; और इन भागोंको उनके पारस्परिक संबंधके साथ संबद्ध (संश्लेषण) करके विचार करें। अतएव, वस्तुके यथार्थ ज्ञानके लिये जरूरी है—

७. विश्लेषण और संश्लेषणकी एकता, भिन्न-भिन्न भागोंमें तथा पूर्ण-योगमें विभाजन—इन भागोंको एक साथ जमा करना ;

८. प्रत्येक वस्तु (या आकार आदि)के सबंध—विभिन्न ही नहीं, बल्कि *साधारण, सामान्य* (संबंध भी)। प्रत्येक वस्तु (आकार, घटना आदि) सभी दूसरी वस्तुओंसे संबद्ध है।

९. सिर्फ विरोधोंकी एकता [समागम] ही नहीं, बल्कि सभी दूसरी स्व-विरोधी (वस्तुओं)का प्रत्येक निश्चय, प्रत्येक गुण, प्रत्येक विशेषता, प्रत्येक पहलू, प्रत्येक स्वभावका भी।

१०. नये पहलुओं, संबंधों आदिके प्रकट होनेकी अपरिमित प्रक्रिया।

११. मनुष्यों द्वारा वस्तुओं, आकारों, घटनाओं आदिके ज्ञानके गंभीर होने—बाहरी रूपसे सार-रूप तथा कम गहराईसे अधिक गहराई तक पहुँचने—की अनगिनत प्रक्रियाएँ।

१२. सह-भावसे कार्यकारण-संबंध (हेतुता) और जोड़ (सन्धि) तथा एक-दूसरेकी निर्भरताके एक रूपसे दूसरे अधिक गहरे तथा अधिक बहुव्यापी (साधारण) रूपमें पहुँचनेकी अनगिनत प्रक्रियाएँ।

(१) *परिवर्तन*—जिस वक्त मनुष्य भाषाका विकास कर रहा था—और उसमें काफी आगे तक पहुँच चुका था, उस वक्त द्वंद्ववाद पैदा नहीं हुआ था, जिसके कारण कुछ अपरिहार्य दोष हमारी भाषाओंमें रह गये हैं। हम विश्वको घटनाओंका प्रवाह न समझ, उसे वस्तुओंका समूह मानते हैं, उसीके अनुसार हम भाषामें गति-परिवर्तन-द्योतक क्रिया-पद "होता है" (भवति) न कहकर, "हैं" (अस्ति) कहते हैं। हमारी बहुत-सी दिक्कतें, गलतफहमियाँ दूर हो जायँ, यदि हम 'अस्ति'का बायकाट कर हर जगह 'भवति'का प्रयोग करें। हर 'चीज' 'है'की अवस्थामें नहीं, बल्कि 'होने'की अवस्थामें है। द्वन्द्ववादका 'है' से कोई संबंध नहीं, चाहे भाषाकी अनिवार्यतासे हमें उसका प्रयोग भले ही करना हो—वह सिर्फ 'होना'से संबंध रखता है।

परिवर्तनशीलता(क्षणिक)वादको अधिक विकसित कर उसे एक साइंसका रूप देनेका भारी श्रेय मार्क्सवादको बहुत हद तक जरूर है; किन्तु यह सिद्धांत बहुत पुराना है। बुद्ध (५६३-४८८ ई०) और उनके समकालीन यूनानी दार्शनिक हेराक्लितु (५३५-४२५ ई०) दोनों ही क्षणिकवाद (अनित्यवाद) के महान् समर्थक थे। बौद्धोंका तो हर समय यह नारा रहा कि "जो है वह क्षणिक है"[१] जो क्षणिक नहीं है वह है ही नहीं। हेराक्लितु कहता था, "(जगत्की) सृष्टि उसका नाश है, उसका नाश उसकी सृष्टि है ; कोई चीज नहीं है, जिसके पास स्थायी गुण हो। संगीतका समन्वय निम्न और उच्च स्वरोंका समागम—*विरोधियोंका समागम*—है। यह (क्षणिकता) एक ऐसा नियम है, जिसे न देवताओं-ने बनाया, न मनुष्योंने। यह सदासे रहा है और रहेगा।" बुद्ध और हेराक्लितुके क्षणिकवादी दर्शनपर हम अन्यत्र[२] कह चुके हैं।

हेगेल् (१७७०-१८३१ ई०) यद्यपि विज्ञानवादी था; किन्तु वह असंग (४०० ई०) की भाँति मानता था कि विज्ञान स्थिर नहीं, क्षणिक

---

[१] "यत् सत् तत् क्षणिकम्" [२] देखो "दर्शन-दिग्दर्शन"

है; इसीलिये उसे शंकराचार्यकी तरह मायावाद—रस्सीमें साँपके भ्रमकी भाँति यह जगत् अपनेसे सर्वथा विलक्षण ब्रह्ममें भ्रम, मायामात्र है—का सहारा नहीं लेना पड़ा। हेगेल्‌ने पहलेसे चले आते विज्ञानवादमें परिवर्तनशीलता(क्षणिकता)को मिलाकर उसे एक कदम आगे बढ़ाया। किन्तु पहले हीसे मौजूद असंगके क्षणिकवादको "प्रच्छन्न बौद्ध" शंकराचार्यका स्थिर ब्रह्मवाद—मायावाद—का रूप देना, उनके प्रयत्न को प्रगतिकी ओर नहीं; बल्कि पतनकी ओर बतलाता है। मार्क्स-एन्गेल्सके *वैज्ञानिक (द्वंद्वात्मक) भौतिकवाद*ने हेगेल्‌के द्वन्द्वात्मक-वादको काल्पनिक विज्ञानवादसे मुक्त कर उसे और आगे बढ़ाया।

एन्गेल्स परिवर्त्तन-शीलतावादके बारेमें समझाते हुए कहते हैं[1]—

"जब हम सारी प्रकृति या मानव-जातिके इतिहास या खास अपनी ही बौद्धिक (मानसिक) क्रियापर विचार, मनन करते हैं; तो सबसे पहले संबंधों, टक्करों, योगों-विभागोंकी न खतम होनेवाली उलझनोंका चित्र हमारे सामने आता है। इस (चित्र)में पहले जो जहाँ जैसा था, (दूसरे क्षण) उसमेंका कुछ भी बच नहीं रहता; सब कुछ चल रहा (गतिशील) है, अस्तित्वमें आ रहा, और विलीन हो रहा है।

"अतएव पहले-पहल हम *चित्रको संपूर्ण (रूप)के तौरपर* देखते हैं, उस वक्त उसके अलग-अलग अवयव कम या अधिक (नज़रसे) ओझल रहते हैं; *हम (वहाँ) गति, परिवर्तन, संबंध देखते हैं, न कि (ऐसी) चीजें, जो कि गति या संबंध कराती हैं और (परस्पर-) संबद्ध हैं।*

"यह विचार, यद्यपि दृश्योंके चित्रके सामान्य स्वरूपको पूरे आकारके तौरपर ठीकसे प्रकट करता है; लेकिन वह तबतक चित्रको बनानेवाले विस्तार(अंगोंमें)को समझानेके लिये पर्याप्त नहीं है; और

[1] Socialism Utopian and Scientific. pp. 29-34.

जब तक हम इन (अंगों-विस्तारों) को नहीं समझते तब तक हमें सारे चित्रका स्पष्ट ज्ञान नहीं हो सकता। इन *अंगोंको जाननेके लिये हमें उन्हें उनके प्राकृतिक या ऐतिहासिक संबंधसे अलग करना होगा ; फिर प्रत्येककी*--उसके स्वभाव, विशेष कारण, कार्य आदिके साथ--*परीक्षा करनी होगी*। प्राकृतिक (भौतिक) साइंस और ऐतिहासिक गवेषणाका यह मुख्य काम है।

"लेकिन, (साइंसके) काम करनेके इस ढंगने हमारेमें यह आदत लगा दी है कि हम प्राकृतिक वस्तुओं तथा घटनाओंको पृथक् कर—विशाल सम्पूर्ण (आकार)से उनके संबंधको हटाकर—देखते हैं; उन्हें हम गतिकी अवस्थामें नहीं, स्थितिकी अवस्थामें; परिवर्तनशील नहीं, स्थायी (रूप)में ; जीवन (की अवस्था)में नहीं, बल्कि मृत्यु (की अवस्था)में देखते हैं।...

"इसके विरुद्ध द्वंद्ववाद *वस्तुओं और उनके (मानस-)चित्रोंको उनके आवश्यक संबंध, सहभाव, गति, आरम्भ और अन्त* (के रूप) *में देखता है।*

"प्रकृति द्वंद्ववादका प्रमाण है।...प्रकृति अतिभौतिक (आध्यात्मिक) रीतिसे नहीं, बल्कि द्वंद्वात्मक रीतिसे (अपना) काम करती है। वह सदासे आवृत्ति करनेवाले चक्र(युग)की *सनातन अद्वैतता* (के रूप) में नहीं, बल्कि एक *वास्तविक, ऐतिहासिक* (न दुहराये जानेवाले) *विकास*के रूपमें काम करती है।"

विश्व वस्तुओंका समूह नहीं, घटनाओंका समूह है ; अर्थात् जिसे हम वस्तु कहते हैं, वह वस्तुतः परिवर्तनशील तरंग-प्रवाह है। एक पीपलके पत्तेको लीजिये। यह उस समय छोटे-छोटे कणोंका *समूह* जान पड़ता है ; किन्तु यदि अणुवीक्षणकी सहायतासे लाखों गुना बढ़ाकर देखें, तो वे कण अपने समूहके भीतर निरन्तर बदलते दिखलाई पड़ेंगे।

इस तरह हम नंगी आँखोंसे पत्तेमें जिस स्थिरताको देखते हैं, सूक्ष्मतामें जानेपर उसे उसका अवयव स्वीकार नहीं कर सकते।

परिवर्तन विश्वके रोमरोममें है, प्राणि-अप्राणि सारा जगत् इस नियमसे जकड़ा हुआ है। विचार बदलते रहते हैं, राय बदलती रहती हैं, हमारी रुचि-अरुचि, हमारी सदाचारीय मूल्य आँकनेकी भावना, हमारी समझ, खुद हमारा स्वभाव भी बदलता रहता है। अपने वातावरणके कारण हम बदलते, नये बन रहे हैं; और हमारे प्रभावमें आकर वातावरण भी बदल रहा और नया बन रहा है। हम भी उसके लिये वातावरण हैं। विश्व स्वयं अपनेको बदलता, नया बनाता प्रकट करता है। उसका हरएक भाग गति कर रहा है। हरएक दृश्य वही नहीं है जो कि एक क्षण पहले था। कोयलेके एक टुकड़ेको हम जलाते हैं—वह अब कोयला नहीं, बल्कि धुआँ और प्रभास्वर ताप है। वह अब चमकता काला ढेला नहीं है, बल्कि बिखरे हुए कण हैं, जो कि आकाशमें फैल रहे हैं। हरएक परिवर्तन पहले क्षण किसी वस्तु या वस्तु-समूहकी गतिके रूपमें दिखलाई देता है, जिस गतिके साथ उस वस्तुकी कुछ विशेषताएँ तथा दूसरी वस्तुओंके साथ उसके संबंधमें भी तब्दीली हो रही है।

लेकिन, इस गतिको सीधे-सादे तौर से देशमें एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जाना नहीं समझना चाहिये ; बल्कि जैसा एन्गेल्सने कहा है : "यह वास्तविक ऐतिहासिक (न दुहराया जानेवाला) विकास है।" विश्वमें घटित हो रहा, प्रत्येक परिवर्तन, एक नवीन भाव (वस्तु)को अस्तित्त्वमें लाता है। विश्व परिवर्तन-शील विश्व है। एक क्षणसे दूसरे क्षणमें भी वह वही (पहिले क्षणवाला ही) नहीं है। प्रत्येक साँस, जो मैं अपने सेलमें इस वक्त ले रहा हूँ, वह सेलके वायु-मंडलके ऑक्सीजन, कार्बन आदिके परिमाणमें अन्तर पैदा कर रहा है। परिवर्तनशील विश्व कहनेका यह भी मतलब है कि उसके गुण भी बदल रहे हैं।

इस आमूल परिवर्तनमें सन्देह करनेकी जरूरत नहीं, जब कि हमें

मालूम है कि भौतिक तत्त्वोंके भीतर घुसने पर हम जिन हाइड्रोजन आदि (९२) परमाणुओं पर पहुँचते हैं, उनमें रेडियो-क्रियावाले परमाणु[1] स्वतः टूटकर बदलते हुए एकसे दूसरे तत्त्वमें परिणत होते रहते हैं। रेडियो क्रियावाले परमाणु—उनके नाभिकण—जो टूटते हैं, वह किसी बाहरी प्रहारके कारण नहीं, बल्कि अपने भीतरकी विरोधी शक्तियोंके समागम के ही कारण। न्यूट्रनसे गोला-बारी करके हालमें साइंस-वेत्ताओंने परमाणुके आकार-गुण सबमें परिवर्तन कर हजारों तरहके नये रासायनिक मिश्रित तत्त्वोंको तैयार किया है।

सदृश उत्पत्ति—प्रकृतिके अन्तस्तममें परिवर्तन और भी क्रान्तिकारी है, और भी आमूल है, यह तो मालूम हुआ। अब सवाल उठेगा कि ऐसा होनेपर हमें "यह वही है" का ख्याल क्यों होता है? यहाँ हमें लेनिन्‌के १३वें-१४वें सूत्रोंको फिर दुहराना पड़ेगा। परिवर्तनकी कुदान निम्न शर्तोंके साथ होती है—"निम्न अवस्थामें पाई जानेवाली कुछ विशेषताओं, गुणों आदिकी उच्च अवस्थामें आवृत्ति होनी, और पुरानी (अवस्था)की ओर दिखलावटी लौटना।" इसका अर्थ है कि हरएक नई उत्पत्ति पुरानेके सदृश होती है। इस सदृश-उत्पत्तिके कारण वैसा भ्रम होना आश्चर्यकी बात नहीं है।

(२) *गति*—"गतिके बिना भूत (भौतिक तत्व) रह नहीं सकता; कोई ऐसी गति नहीं जो कि भूत-गति नहीं है", देमोक्रितु, लुक्रेतिउसे से लेकर मार्क्स, एन्गेल्स, लेनिन् होते आज तक सारे भौतिकवादियोंका यही नारा रहा है। एन्गेल्सने लिखा—[2]

"*गति भूतके (अपने) अस्तित्व (रहने)का स्वरूप है।* बिना गतिके भूत न कभी था, और न कभी रहेगा। (हम देखते हैं)—

---

[1] प्लोमियम्, रडोन्, रेडियम्, अक्टीनियम्, थोरियम् आदि। देखो, "विश्वकी रूपरेखा"।

[2] Anti-Duhring (1878) p. 71

विश्व-आकाशमें गति, नाना प्रकारके आकाशीय पिंडोंके ऊपर छोटे-छोटे पिंडोंकी यांत्रिक ('गुरुत्वाकर्षण वाली') गति ताप या विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों, रासायनिक मिश्रण और विछुड़न या प्राणि-शरीरके रूपमें अणु-गुच्छकोंकी गति--किसी भी समय विश्वमें भूतका प्रत्येक परमाणु इन गति-प्रकारोंमेंसे एक या दूसरे रूपमें, अथवा एकाएक इन प्रकारोंमेंसे अनेक रूपोंमें होता है। सभी (तरहका) विश्राम, सभी साम्यावस्था सिर्फ सापेक्ष है, और उसे गतिके प्रकारोंमेंसे किसी एककी अपेक्षासे ही समझा जा सकता है।"

(३) *विश्व विच्छेदयुक्त प्रवाह*—परिवर्तनके बारेमें लिखते वक्त हम बतला आये हैं, कि किस तरह विश्व और उसके क्षुद्र परमाणुओं तक पर परिवर्तनका नियम लागू है। भौतिक तत्त्वके सूक्ष्मतम ज्ञात अंश एलेक्ट्रन्[१]को ले लीजिये। साइंसकी ताजा गवेषणाओंने सिद्ध किया है, कि वह कण-तरंग है—अर्थात् उसमें कण-जैसी एकदेशीयताके गुण भी हैं, और तरंग-जैसे प्रवाहके गुण भी ; जिसका साफ अर्थ है कि वह सीमित—परिच्छिन्न--विच्छिन्न (विच्छेदयुक्त) प्रवाह है। द्वंद्ववाद इसी विच्छिन्नतामें तथा उसीके द्वारा होते विश्वका घटना-प्रवाह मानता है। विश्व और उसके पदार्थोंके प्रत्येक अभिनव रूप, अभिनव गुणके उत्पन्न होनेके साथ ही अतीत रूप, अतीत गुणसे विच्छेद हो जाता है। इसीलिए, द्वंदवाद सिर्फ प्रवाह कहकर ही नहीं ठहर जाता, बल्कि उसे विच्छिन्न प्रवाह भी कहता है। विछिन्न और प्रवाह दो परस्पर विरोधी बातोंको सुनकर घबड़ाना नहीं चाहिये। द्वंद्ववाद विरोधि-समागमवादका ही दूसरा नाम है। यदि सनातनी तर्कशास्त्रकी समझमें यह नहीं आता, तो उसे जंगलकी खाक छानने दीजिये। प्रकृति जब स्वयं इसका समर्थन करती है, तो तर्क बपुरा किस खेतकी मूली है।[२]

---

[१] देखो "विश्वकी रूपरेखा"

[२] "यदिदं स्वयमर्थानां रोचते तत्र के वयम्"--प्रमाणवार्त्तिक

विच्छेदयुक्त प्रवाहके समझनेके लिये दो तरहकी गतियोंको लीजिये। साँप सरकता है—हर स्थानको छूता जाता है, उसकी गति निरन्तर प्रवाह है। और, मेंडककी कुदान (मंडूक प्लुति) एक दूसरे ही तरहकी गति है, जिसमें मेंडक हर स्थानको छूता नहीं है, इस स्थानपर है, और फिर कूदकर पाँच हाथके स्थानसे कोई संपर्क रखे बिना नये स्थानपर आ पड़ता है। जिस विच्छेदयुक्त प्रवाहके बारेमें हम कह रहे हैं, वह इसी तरहकी मेंडक-कुदान है। अंकगणितको हम इस तरहकी मेंडक-कुदानसे भरा देखते हैं। संख्याको एककी संख्यासे दो की संख्यापर क्या हम सर्प-गतिसे जाते देखते हैं, या मेंडक-कुदानसे ? हर अंकपर यही बात है ! अंकमें हम जहाँ १, २, ३...का प्रवाह पाते हैं, वहाँ १ से दो, २ से तीन...के कुदान-विच्छेदको भी पाते हैं। यह साफ विच्छेद (कुदान)-युक्त प्रवाह है।

इस विरोधि-समागम—विच्छेदयुक्त प्रवाह—के न होने पर प्रकृति 'निर्जीव' वैचित्र्यहीन होती। आजकल सिनेमाका बहुत प्रचार है। नागरिक, ग्रामीण सभी लीला चिटनीस और रेणुका देवीके अभिनयोंका आनन्द लेते हैं। जानते हैं, सिनेमाके चल-चित्र किस तरह रुपहले पर्दे पर प्रतिबिम्बित हो हमारे मनोरंजनके कारण बनते हैं। वहाँ भी कण-तरंग, विच्छेदयुक्त-प्रवाह मौजूद है। फिल्म सैकड़ों फीट लम्बा पारदर्शक (काँच-सा) फीता है, जिसपर छोटी-छोटी चौकोर तसवीरें हैं। इन इंच-दो इंच लम्बी-चौड़ी चौकोर तसवीरोंको कागज पर लेकर यदि आप आतशी शीशेसे देखें, तो वह चौखटीमें लगी 'निर्जीव' (गतिशून्य) तसवीरें हैं। किन्तु, जब यह छोटे-छोटे तसवीर-मनकोंकी माला (कण-तरंग) के रूपमें एक-के बाद एक पर्दे परसे गुजरती हैं, तो उनको हम उस रूपमें देखते हैं, जिसे चल-चित्रपट कहते हैं। किन्तु, यहाँ एक बात और ख्याल रखिये, यदि सिनेमाकी मशीन-लालटेनके मुँहसे गुजरते वक्त एक तसवीरको दूसरी तसवीरसे 'अविच्छिन्न' क्रमसे लगा दिया जाय, तो जानते हैं तसवीर आपको कैसी दिखलायेगी ?—बिल्कुल अस्पष्ट, बिना फोकस् किये

कमरेसे खींची तसवीर अथवा साठ वर्षके बूढ़ेकी ऐनकको लगाकर चलनेवाले बालककी आँखोंसे देखी जानेवाली 'दुनिया'की तरह। इसीलिये, सिनेमाकी चित्र-मालामें एक तसवीरको दूसरीसे विच्छेद करनेका इन्तिजाम किया गया है। इसी विच्छेदयुक्त चित्र-प्रवाहका चमत्कार है, जिसे कि हम सिनेमाकी चलती-फिरती तसवीरोंमें पाते हैं।

घ. द्वन्द्वात्मक (वैज्ञानिक) भौतिकवाद

भौतिकवादके कई भेद हैं, खासकर उसके ऐतिहासिक प्रवाहमें। एक पुराण भौतिकवाद था, चार्वाकको जिसका समर्थक बतलाया जाता है; और कहा जाता है कि वह सिर्फ प्रत्यक्ष प्रमाणको मानता था—गोया वह मनुष्यकी मस्तिष्क-शक्तिके इस्तेमालको ठीक नहीं मानता था। लेकिन, हम नहीं समझते, चार्वाक इतना बच्चोंका-सा दार्शनिक था। उसका प्रत्यक्ष प्रमाण पर जोर देनेका यही मतलब हो सकता है, कि इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होनेवाला ज्ञान 'परमार्थ' सत् है, दूसरी तरह—कल्पना आदिके द्वारा अनुमान–उपमान··· शब्द—से जो ज्ञान प्राप्त होते हैं, वह उतने ही अंशमें प्रामाणिक होंगे, जितने अंशमें कि उन्हें प्रत्यक्ष प्रमाणकी सहायता प्राप्त है।—प्रत्यक्ष मूर्धाभिषिक्त प्रमाण है, दूसरे उसके चाकर हैं। चार्वाकके समय कुञ्जी पर चलनेवाली घड़ी अथवा वाष्प-चालित यंत्रोंका पता नहीं था। पीछे इन यन्त्रोंके अस्तित्वमें आनेपर जो भौतिकवाद प्रचलित हुआ, उसे *यांत्रिक भौतिकवाद* कहते हैं।

(१) *यांत्रिक भौतिकवाद*—पुराण भौतिकवादमें 'किण्व' डालनेसे शराबके नशाकी उत्पत्तिकी भाँति भूतसे चेतनकी उत्पत्ति बतलाते थे। लेकिन, जब चाभी देकर हफ्तों नहीं, वर्षों चलनेवाली घड़ियाँ बनने लगीं, तो इसे लेकर दो तरहके दार्शनिक विचार पैदा हुए, जिनमें एक तो दे-कार्त-जैसे उन ईश्वरविश्वासियोंका गिरोह, जो कि विश्वको भारी

घटी-यंत्र और ईश्वरको चाभी लगानेवाला मानते थे। इस यांत्रिक ईश्वर-वादमें ऐसे विचार भी शामिल थे, जिनमें ईश्वरको प्रलय तकके लिये चाभी लगा आराम करते बतलाया गया था, और इसीलिये उनका कहना था, बीचमें सारी बातें प्राकृतिक नियमसे चलती हैं। दूसरा विचार यांत्रिक भौतिकवादियोंका था, जो घड़ी, घड़ीसाज सबको भौतिक मानकर कहते थे, कि किसी ईश्वरको सृष्टिके आदिमें चाभी देने तथा प्रलय (कयामत) के समय नाश करनेकी जरूरत नहीं। सत्रहवीं-अठारहवीं सदीमें यंत्रोंके जो तरह-तरहके आविष्कार हुए थे, उनका प्रभाव भौतिकवाद पर पड़ना जरूरी था। यांत्रिक भौतिकवादियोंके लिये मन और भूत एक ही चीज थी। इस अर्थमें नहीं कि प्रकृतिसे मन विकसित हुआ है, बल्कि दोनों अभिन्न हैं। गुणात्मक परिवर्तनसे—विच्छेदयुक्त प्रवाह द्वारा—किस तरह बिल्कुल नई वस्तु—घटना—पैदा होती है, इसे वह महत्त्व नहीं देते थे। उनके लिये जिस तरह घड़ी उसके पुर्जोंका योग है; वैसे ही मन भी उसके बनानेवाले भौतिक तत्त्वोंका योग है। अठारहवीं सदीके यांत्रिक भौतिकवादके बारेमें एन्गेल्सने लिखा था [1]—

"पिछली सदीका भौतिकवाद बहुत अधिक *यांत्रिक* था; क्योंकि उस समय सभी प्राकृतिक साइंसोंमें यंत्रशास्त्र और (वहाँ भी) वस्तुतः ठोस पार्थिव तथा आकाशीय पिंडोंका यंत्रशास्त्र—संक्षेपमें गुरुत्वाकर्षणका यंत्रशास्त्र एक निष्कर्षपर पहुँचपाया था।...दे-कार्त[2] के लिये जैसे पशु (जीव-रहित स्वयंवह यंत्र) था, वैसे ही अठारहवीं सदीके भौतिकवादियोंके लिये मनुष्य एक यंत्र था। रसायन और प्राणि-संबंधी स्वभाव (जिन घटनाओंमें, यह सच है—यंत्र-शास्त्रके नियम भी लागू हैं; किन्तु दूसरे उनसे उच्चतर नियमों द्वारा वे भी फेंक दिये जाते हैं) की घटनाओंमें

---

[1] Ludwig Feuerbach pp 367)

[2] दे-कार्त सिर्फ मनुष्यों और फरिश्तोंमें ही जीवात्माकी सत्ताका स्वीकार करता था, बाकी प्राणी उसके लिये जीव-रहित यंत्र थे।

इस तरह सिर्फ यंत्र-शास्त्रके मानोंके प्रयोगका अभाव पुराने फ्रेंच भौतिक-वादकी एक खास कमी थी, जो कि उस समयके लिये अनिवार्य भी थी।

"दूसरी खास कमी उस भौतिकवादकी इस बातमें थी कि वह विश्वको घटना-प्रवाह—ऐतिहासिक घटना-प्रवाहके तौरपर विकसित होते भूत (भौतिक तत्व)—के तौरपर समझनेकी क्षमता न रखता था।...वह समझता था कि प्रकृति निरन्तर गति कर रही है। किन्तु, उस समयके विचारके अनुसार यह गति सदासे एक वृत्त पर हो रही है, इसलिये उस स्थानसे कभी नहीं हटती, और फिर उन्हीं परिमाणोंको उत्पन्न करती है।"

फ्रांसीसी भौतिकवादी दो'ल-बाश्[1] (१७२३-८९ ई०) ने लिखा था[2] —"हम (भौतिकवादियों)को कोई अपत्ति नहीं होनी चाहिये, यदि कोई व्यक्ति पहिलेकी कल्पनाओंसे इन्कार करता है। यदि कोई बतलाता है कि प्रकृति अटल एवं सार्वत्रिक नियमोंके खास समूहके अनुसार काम करती है; यदि कोई विश्वास करता है कि मनुष्य, चौपाया, मछली, कीड़े, वृक्ष आदि जैसे आज हैं, वैसे ही सदासे रहते आये हैं और रहेंगे; यदि वह जोर देता है कि तारे नभ-मंडल में अनन्तकाल तक जगमगाते रहेंगे।" यांत्रिक भौतिकवादकी यह यांत्रिक जड़ता ही थी, जिसने विज्ञानवादको आगे बढ़ानेमें काफी सहायता पहुँचाई; यद्यपि उसमें सबसे सहायक थी मध्य और उच्चवर्गके शिक्षितोंके दिमाग की क्रान्तिके नामसे उत्पन्न हुई परेशानी।

(२) *वैज्ञानिक भौतिकवाद*—द्वंद्ववादके बारेमें हमने बतलाया कि वह द्वंद्वसमागम, विच्छेद-युक्त प्रवाह और गुणात्मक परिवर्तनका सिद्धान्त है। भूत और भौतिकवादको भी हम बतला चुके, और यह भी कि यांत्रिक भौतिकवाद—अपने समयके लिये काफी प्रगतिशील रहते

---

[1] D'Holbach. [2] Essays in History of Materialism (by Plekhanov) p. 13 में उद्धृत।

भी—नई उलझनोंको अपने काठके हथियार द्वारा सुलझानेमें असमर्थ था। भौतिकवाद + द्वंद्ववाद = द्वंद्वात्मक भौतिकवाद जिसे ही वैज्ञानिक भौतिकवाद कहते हैं, भौतिकवादका उच्चतम विकास है; और वह विश्वके सारे क्षेत्रपर एक-सा लागू होता है।

(i) *व्याख्या*—वैज्ञानिक भौतिकवाद वह भौतिकवाद है, (क) जो अतिभौतिक (आध्यात्मिक) और विज्ञानवादी धारणाओंसे मुक्त है; (ख) जो कि प्राकृतिक जगत् (जिसमें मनुष्य भी सम्मिलित है) को विकसित होते, स्वरूप-परिवर्तनके निरन्तर घटना-प्रवाहके रूपमें स्वीकार करता है; (ग) इसीलिये जो उसी तरहके विकास हो रहे तरीकेपर अपनी विचार-प्रक्रियाको चलाता है—वह सभी वस्तुओंको उनकी बहु-पार्श्वताके एक दूसरेसे भिन्न स्वरूपों, उनकी अनेकतामें एकता, और उनके विकास-संबंधी बाहरी भीतरी परिणामांशों(की दृष्टि) से देखना चाहता है।[1]

साइंस-युगके आरम्भमें एक समय था, जबकि दर्शन भी धर्मकी भाँति उपेक्षित था; किन्तु कान्ट, हेगेल्-जैसे दार्शनिकोंने उसे बँचानेकी कोशिश की। कान्टने प्रतिभा और प्रयोगकी सारी कसौटियोंको कुण्ठित करके, और हेगेलने साइंसके आधार द्वन्द्वात्मकभूत (भौतिक)तत्त्वको ही द्वन्द्वात्मक-विज्ञान नाम देकर अपने दर्शनके लिये साइंसकी सहायता प्राप्त की। इसमें शक नहीं कि कान्ट और हेगेल्के प्रयत्नने दर्शनकी वह गत नहीं बनने दी, जो कि धर्मकी हुई। और उसके बाद तो दर्शन यहाँ तक दावा करने लगा कि वह सब साइंसोंके ऊपर महासाइंस है; वैज्ञानिक भौतिकवाद अपनेको साइंसोंका निरंकुश शासक—महाराजा—नहीं समझता; उसकी इस विषयमें क्या राय है, इसे एन्गेल्सके शब्दोंमें सुनिये—[2]

---

[1] Dialectics (by T. A. Jackson) p. 22.

[2] Socialism pp. 39-40.

(ii) *उद्देश्य*—"आधुनिक [वैज्ञानिक] भौतिकवाद सारतः द्वन्द्व-वादी है, और उसे उस प्रकारके (दर्शन-विद्या) की कोई जरूरत नहीं, जोकि महाराजाकी भाँति वाकी सभी साइंसोंकी भीड़पर 'मेरा शासन है', यह दिखलाना चाहता है। प्रत्येक खास साइंसके लिये वस्तुओंके बड़े समुदाय और वस्तु-संबंधी हमारे ज्ञानके बीच अपनी स्थितिको साफ करना जरूरी है, और जैसे ही वह यह कर लेता है, वैसे ही इस सारे समुदायके लिये उपयोगी एक खास साइंसकी जरूरत नहीं रहती। *अब भी पहलेके सभी दर्शनोंमेंसे जो कुछ बँच रहा है, वह है विचार और उसके नियमोंका साइंस—प्रचलित तर्कशास्त्र और द्वंद्ववाद*। और बाकी सभी बातें इतिहास और भौतिक (प्राकृतिक)....साइंसके अन्तर्गत हो गई हैं।"

इस तरह साफ है, कि वैज्ञानिक भौतिकवाद अपनी वही स्थिति नहीं समझता, जो कि दूसरे दर्शन। पैसोंके लिये—दो-चार नहीं दो-चार हजार दो-चार लाखके लिये—जूआ-चोरी, रिश्वत, बेईमानी, बही-खातेका जाल ...सब कुछ करनेवाला शिक्षित धनिक-वर्ग तथा उसके पिछू जिस तरह रोटीकी बात करतेही नाक-भौं सिकोड़ सातवें आसमानपर बैठे देवताकी तरह बोल उठता है—मनुष्य रोटीसे नहीं जीता, रोटीका सवाल रखना मानवताका अपमान है; मनुष्यको "नेह नाना", "सत्य शिवं सुन्दरं", "तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदं उपासते।"[१] ठीक इसी तरह दर्शन भी अपनेको सातवें आसमानका देवता समझ "राम बादशाहके हुक्मनामे" निकालता है, जो नितान्त परिहासास्पद है, इसे कहनेकी आवश्यकता नहीं।—और इसे दार्शनिकोंमें अधिक सोचने-समझनेकी शक्ति रखने-वाले बूझते हैं। इसीलिये तो वह भी पुराने समयमें (और अब भी जब-तब)—जैसे कणाद, गौतम, ग़ज़ाली, रोश्दने—और दुनियाकी

[१] "यहाँ नाना नहीं है", "सत्य, अच्छा, सुन्दर", "उसी ब्रह्मका ज्ञान करो, इसका नहीं जिसकी कि (पामर लोग) उपासना करते हैं।"

आँखमें धूल झोंकनेके लिये कान्ट और विलियम् जेम्सने भी—धर्म-और दर्शनके समन्वयकी कोशिश की थी, उसी तरह आज भी कुछ लोग दर्शन और साइंसका समन्वय करना चाहते हैं।

इससे एक बात और साफ हो जाती है, कि मानवकी प्रगतिमें दर्शन धर्मके आगे आनेवाली स्थिति रखता है। इसलिये दुनियामें सभी जगह दर्शनको गाली देते देख भी धर्मको उसकी सहायता पानेके लिये अपना हाथ पसारना पड़ा। साइंस दर्शनसे भी आगेकी प्रगति है, इसलिये "लोग क्या कहेंगे"के खयालसे दर्शन चाहे साफ स्वीकार न करे; किन्तु वह भी साइंसका मुँह जोहता है। "राम बादशाहका हुक्मनामा" निकालनेसे दर्शन साइंसका महाराजा नहीं हो सकता। वैज्ञानिक भौतिकवाद अपनेको साइंसोंके ऊपर नहीं समझता और न साइंसोंसे अलग। वह सभी साइंसों—ज्योतिष, भौतिकशास्त्र, रसायन, प्राणिशास्त्र...के गवेषणीय विषय द्वंद्वात्मक भूतको आँखोंसे ओझल न होने देनेकी कोशिश करता है। इसकी वर्तमान अवस्थामें कितनी जरूरत है यह आप आसानीसे समझ सकते हैं, जबकि ज़ीन्स और एडिंग्टन जैसे साइंसदानोंको धर्म-दर्शन—राज तथा वर्तमान समाज-व्यवस्था—की चापलूसी करते हुये अपने पदको ठीकरों ("सर"...?)के मूल्य बेंचते देखते हैं। वैज्ञानिक भौतिकवादकी आज अवश्यकता है, विचार-क्षेत्रमें इन प्रतिक्रियावादी विचारों (दर्शनों) से लोहा लेनेके लिये। वस्तुतः, वैज्ञानिक-भौतिकवाद विज्ञानों (साइंसों)का अधिनायकत्व है, जो कि कमकर-अधिनायकत्वकी भाँति नीचेसे—भिन्न भिन्न साइंसोंसे—शक्ति प्राप्त करता है। और जैसा कि एन्गेल्सने अभी कहा, जैसे ही साइंसोंको "आत्मचेतना" आजायेगी, और नामधारी साइंसदानोंकी धाँधली तथा अनधिकार-चेष्टा खतम हो जायगी; वैसे ही यह अधिनायकत्व और विचार-क्षेत्रकी सर्कार भी सूख मुर्झा-मुर्दा होजायगी, तथा जो काम वैज्ञानिक भौतिकवादके रूपमें आज संगठित हुआ है, उसे खुद साइंस अपने आप करने लगेंगे; इस प्रकार

राज्य-हीन वर्ग-हीन चेतनावान् कमूनिस्त समाजी जनताकी भाँति अपने भीतर वह किसी ऑलिवर लाज, ज़ीन्स और एडिंग्टन (रमनको भी ले लीजिये) जैसे पुरान-पोषक को नहीं पैदा होने देंगे।

(iii) *साइंसवेत्ता और वैज्ञानिक भौतिकवाद*—उपरोक्त कथन सिर्फ ज़बानी जमा-खर्च नहीं है, इसे आप वैज्ञानिक भौतिकवादी सारी विचार-धारामें पायेंगे। मैंने स्वयं जब इस पुस्तकको लिखना चाहा, तो तब तक कलम नहीं चलाई, जब तक कि वैज्ञानिक भौतिकवादके मूल आधार भौतिक साइंस और सामाजिक साइंस पर हिन्दीमें पुस्तकें—"विश्व की रूपरेखा" और "मानव समाज" पहिले नहीं तैयार कर लीं। इसकी ईमानदारीका सबसे बड़ा प्रमाण है, प्रयोगपर जोर देना; इसे हम अभी थोड़ा ठहरकर कहनेवाले हैं, किन्तु यहाँ इतना जान लेना चाहिये कि वैज्ञानिक भौतिकवाद किसी भी वाद, विचार, दिमागी कल्पनाको तब तक माननेके लिये तैयार नहीं, जब तक कि प्रयोग—भौतिक विश्लेषण और परीक्षण—पर वह ठीक न उतरे; जैसा कि आजके वैज्ञानिक भौतिकवादके जीवित सर्वश्रेष्ठ विचारक स्तालिन्का कहना है—"प्रयोग बिना वाद (सिद्धान्त) नपुंसक-बाँझ है, वाद बिना प्रयोग अंधा है।"

वैज्ञानिक भौतिकवाद साइंस-वेत्ताओंके कितने कामका है यह तो इसके नाम—वैज्ञानिकों (साइंस-वेत्ताओं) के भौतिकवाद—से ही साफ है, किन्तु यदि इसमें साक्षीकी जरूरत है तो इंगलैंडके सर्वश्रेष्ठ साइंस-वेत्ताओंमें एक जे० बी० एस०, हैल्डेनके शब्दोंको सुनिये[1]—

"द्वंद्वात्मक (वैज्ञानिक) भौतिकवादको आजकल अंग्रेज वैज्ञानिक विचारकोंमेंसे कुछ लोग इस्तेमाल करने लगे हैं। किन्तु दुर्भाग्यने

[1] Marxist Philosophy and the Sciences (by J. B. S. Haldane, p. 46.

उनके (सफल गवेषणोंमेंसे) कुछ उत्तम उदाहरणोंको यहाँ उद्धृत करना (अच्छा नहीं, क्योंकि) उससे उनकी नौकरी और वेतन पर खतरा हो सकता है।"

देखा, पूँजीवादी समाजके विचार-स्वातंत्र्यकी दिखलावटी ढोलके अंदर कितनी पोल है! उसने साइंस-क्षेत्रके कमकरोंके सिर पर भी कच्चे धागेके सहारे नंगी तलवार लटका रक्खी है !!

(iv) भूतकी प्रधानता "नेह नाना"वाले उपनिषद्के ऋषियों, तथा निर्विकार विज्ञान(मन)-मयी (अभौतिक) दुनियाके 'स्रष्टा' अफलातूँको छोड़ दीजिये, उन्हें अत्याचारके भारसे दबी जाती दासोंकी पृथिवीको भुलाने का वही रास्ता मालूम हुआ ; किन्तु आधुनिक साइंस-युगके विचारक भी भौतिक जगत्को भुलवानेकी जी-तोड़ कोशिश करके जब बेहतर दुनिया बनानेके प्रयत्नमें बाधा डालते हैं, तो आश्चर्य और क्षोभ दोनोंकी सीमा नहीं रहती। शायद वह कह सकते हैं कि बेहतर दुनिया बनानेमें हम बाधा नहीं डालते ; किन्तु "करनी-रहित कथनी" अपने और दूसरोंको धोखा देनेके सिवाय कुछ नहीं है। यदि उनके विचारमें भौतिक दुनियाका अस्तित्व ही नहीं है, तो सर राधाकृष्णन् हिन्दू विश्वविद्यालयकी व्यासगद्दीसे गीता या शंकराचार्यके अद्वैतवाद—मायावाद—को सुनाकर कुछ नौजवानोंके दिमागमें धर्मकी सड़ी लाशकी माला धारण करानेमें भले ही सफल हो सकते हैं, किन्तु उनसे यह आशा नहीं की जा सकती, कि वह उसी तरह नई दुनियाके निर्माण करनेमें प्राण-शरीर लगा सकेंगे, जितना कि वह तरुण लगा सकते हैं, जिनके लिये दुनिया माया, अनिर्वचनीय ब्रह्मकी छाया नहीं, बल्कि वह वस्तु-सत्य—हजारों पीढ़ियों और असंख्य मनुष्योंके दुःख-सुख, जीवन-मरणकी वास्तविक दुनिया—है। वह जमाना गया जब भौतिकवादियोंको दुराचारी "ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्"वादी स्वार्थी कहकर लोगोंको भड़काया जा सकता था। अब लोगोंकी आखें खुली हैं, और वह जानते हैं कि सबसे

पामर नरपशु दुराचारी मनुष्य मिलेंगे धर्माचार्यों और उनके इशारे पर गद्‌गद हो नाचनेवाले सेठों, राजाओं, नवाबोंमें। स्वार्थके लिये जाति और देशको बेंचनेवाले भी उसी वर्गमें ज्यादा मिलेंगे, जो कि "नेह नाना" का अनन्य भक्त है।

हाँ, लेकिन आजके दार्शनिकोंने पैंतरा बदला है, वह मायावादकी जगह परिणामवादी विज्ञानवाद—दुनिया कल्पित नहीं, अभौतिकतत्त्व (विज्ञान या मन)का परिणाम (रूपान्तर) है—को मानते हैं; वह कहते हैं विश्वके भीतर मूलतत्त्व भूत नहीं, अ-भूत (विज्ञान, मन) है। लेकिन भूतके बिना मन (विज्ञान) कभी था, क्या यह कल्पना भी की जा सकती है—वैज्ञानिक विधिके अनुसार? साइंस हमें बतलाता है कि मनके पैदा होनेसे पहिले अरबों वर्षों तक बिना मनके ही भूत (भौतिक-तत्त्व) मौजूद था। भूगर्भ-शास्त्री पृथिवीकी आयुको दो अरब वर्षसे ऊपर मानते हैं, आइये देखिये तो वहाँ मन कब उत्पन्न होता है। लेकिन यहाँ पहिले यह प्रश्न उठ खड़ा होगा—मनको किसके भीतर मानते हैं। प्रभु ईसाके भक्तोंका फतवा था कि स्त्रियोंमें जीव नहीं है। खैर! यह चौदह-पंद्रह सौ वर्षोंकी पुरानी बात है; और बात बढ़नेपर जीव और आत्माकी बालकी खाल खींचनेका डर है। ईश्वरपुत्र-ईसाके परमभक्त दे-कार्त (१५९६-१६५० ई०)को लीजिये, उस मरे—प्रभु मसीह उसकी आत्माको शान्ति दें—अभी तीन सौ वर्ष मुश्किलसे हो पाये हैं—उसका कहना थाः मनुष्य छोड़ बाकी सभी प्राणी—वानर और वनमानुष भी—चलते-फिरते यंत्र हैं। आधुनिक मानवका पता ४०, ५० हजार वर्षसे पहिले बिल्कुल नहीं लगता। यदि नेअन्डर्थल, जावी, चीनी पथराई हड्डियोंवाले मानवों अथवा मानवाभासोंको भी मान लें कि उनमें अफ-लातूँ और शंकराचार्य जैसा मन था, जो कि अपने भीतरसे इस ब्रह्मांड-को मदारीकी थैलीकी तरहसे निकाल सकता था; तो भी हम १० लाख वर्ष तकही पहुँचते हैं। यदि आप और आग्रह करते हैं, और आधुनिक पक्षियों

तकको मन प्रदान करना चाहते हैं, क्योंकि तोते मनुष्यकी तरह बोलते हैं—बोलते ही नहीं गुस्सा या खाना माँगनेके शब्दोंके अर्थसे भी कभी-कभी परिचित देखे जाते हैं—इसलिये उनके तुफैलसे सारी पक्षी जातिको यदि मनवाली माननेका आग्रह करते हैं, तो एवमस्तु; तब भी ५० लाख वर्षसे आप आगे नहीं पहुँचते—साथ ही यह भी ख्याल रखिये कि उस वक्तके पक्षी तोतेका तो क्या आजके उल्लूके जूतेका तस्मा भी खोलनेकी योग्यता नहीं रखते थे। तब भी मनकी आयु ५० लाख वर्ष होगी, जब कि पृथिवी (उसके मन-हीन भूत) की आयु २०,००० लाख वर्ष है। आप यदि सारे पुराण-पक्षी, पुराण-सरीसृप, अर्ध-जलचर, मछली, प्रथम रीढ़धारीसे भी आगे अ-रीढ़धारी प्रथम प्राणीको भी मन-वाला कहना चाहते हैं, तो हम उसके लिये भी तैयार हैं, यद्यपि इतना बतला देनेके साथ कि इन बेचारोंको अपने मनसे दुनिया बनानेकी साध 'सात जन्म' में भी नहीं हो सकती थी; और जोंक, केंचुये जैसी अरीढ़धारी प्राणिजातिके प्रथम वंशज बेक्टीरिया और *विरस्* जैसोंको भूत और अ-भूत (जड़-चेतन) दोनों कहलानेका वैसा ही अधिकार था, जैसे चमगादड़को पशु और पक्षी दोनों कहलानेका। खैर, आपके इस दुराग्रहके मान लेनेपर भी मनकी आयु सिर्फ ५०० लाख वर्ष होती है, जबकि पृथिवीमें मौजूद भूत उम्रमें उससे ४० गुना बूढ़ा है। इससे साफ साबित है, कि विश्वमें भूत (भौतिक तत्व) पहिलेसे मौजूद था, मन या विज्ञान पीछे आया। साइंसवेत्ता हैल्डेनके शब्दोंमें[1]—

"चाहे, बाहरी प्रकृति (जगत्)के बारेमें हमारा ज्ञान (साक्षात् नहीं) परम्परासे (विषय-इन्द्रिय-मस्तिष्कके संपर्कसे प्राप्त वेदना द्वारा) ही क्यों न हो, किन्तु हम उसके बारेमें जितना जानते हैं, उसके सामने हमारा वेदनासंबंधी ज्ञान नगण्यसा है; क्योंकि इस (जगत्)के बारेमें जो ज्ञान हमें प्राप्त है, वह सामाजिक (सारे समाज द्वारा अर्जित) है।

---

[1] Marxist Philosophy and Sciences pp. 140-42

मैं अपने हाथको देखता हूँ, और जानता हूँ कि इसमें कितनीही नस, पेशी, हड्डी, रुधिरविंदु...हैं। यह ज्ञान हजारों शरीर-शास्त्रियोंकी वेदनाओंपर आधारित है। मैं प्रत्येक केशके परमाणुओंकी स्थिति-व्यवस्थाको जानता हूँ (या कमसे कम स्थूल रूपसे जानता हूँ)। यह ज्ञान आस्टवरीकी वेदनासे प्राप्त हुआ है, जो कि एक्स-रेके फोटो-चित्रोंकी परीक्षा करते वक्त उसे हुई। हजारों आदमियोंका समाजीकृत (सारे समाज द्वारा अर्जित) ज्ञान, चाहे वह (साक्षात् नहीं, वेदना-) परम्परासे ही प्राप्त क्यों न हो, उससे कहीं अधिक (प्रामाणिक) सूचना हमें देता है, जितना कि एक आदमीका वैयक्तिक ज्ञान। मुझे वास्तविक दुनियामें काम करना है। वे (विज्ञानवादी वेदान्ती) भी, यदि पूर्णतया स्वार्थी नहीं हैं, तो, अपने विचारोंको अपने साथी (दूसरे मनुष्यों) तक भूत (भौतिकतत्वों) पर काम करते हुए लेखन या भाषण द्वारा पहुँचाते हैं। यदि आप (विज्ञानवादी) सचमुच विश्वास रखते हैं, कि आपने अपनी वेदनाओं द्वारा जगत्को बनाया है, तो आप (ऐसी विषम दुनिया बनाकर अपने ऊपर) बड़ी भारी जवाबदेही ले रहे हैं।...तो भी मैं (जगत्के बनानेवाले) आपको नहीं कहता कि आप एक (दूसरी इससे) बेहतर दुनियाको बनायें; बल्कि मैं सिर्फ (इतना ही अर्ज करूँगा, कि आइये) इस सामने (मौजूद जगत्)को बदलनेमें हमारी सहायता कीजिये। मुझे विश्वास है, ऐसा (बदलनेकी सहायता) करनेमें [स्वार्थी वेदान्ती सत्ताधारियोंकी ओरसे] जिस विरोधका सामना आपको करना पड़ेगा, वह आपको पक्का विश्वास करा देगा, कि आपका मुकाबिला [मायासे नहीं बल्कि] वास्तविकता [ठोस जगत्] से हो रहा है।..."

(v) *वैज्ञानिक भौतिकवादके सामने काम*—इसे मार्क्सने एक सूत्रमें कह दिया है[1]—

---

[1] Thesis on Feuerbach XI

"दार्शनिकोंने भिन्न-भिन्न तरहसे जगत्की सिर्फ *व्याख्या* की है; किन्तु (अब) बात है, उस (जगत्)के बदलनेकी।"

भौतिकवादियोंको पिछले सत्ताईस सौ वर्षोंमें—याज्ञवल्क्यसे लेकर हिट्लर तक—जो गालियाँ सुननी पड़ी हैं, वह इसीलिये कि वह इस दरिद्रता और अन्यायसे भरी दुनियाकी गलत-सलत व्याख्या नहीं करना चाहते, बल्कि उसे बदलनेमें लग जाते हैं। वैज्ञानिक भौतिकवाद वह दर्शन (हमारी भाषामें प्रचलित शब्दके अनुसार) है, जो कि बतलाता है—दुनियामें परिवर्तन होता है और कैसे वह परिवर्तन होता है। यही नहीं उस परिवर्तनमें मनुष्य होनेके नाते हमें हिस्सा भी लेना चाहिये। हमारी आँखोंके सामने दो प्रकारके भारी परिवर्तन घटित हो रहे हैं। एक परिवर्तन वह है जो कि साइंस अपने आविष्कारोंसे उपस्थित कर रहा है।—रेल, तार, बिजली, हवाई-जहाज, रेडियो, सिनेमा जिस तरहके परिवर्तनको उपस्थित कर रहे हैं, वह मनुष्यकी अचिन्त्य क्षमताको बतला रहे हैं। राजघाट (बनारस)के पुलके पास खड़े होकर देखिये तो इस पारसे उस पार मील भरके करीब लम्बे और भारी-भारी लोहेके गाटरोंसे बने उस विशाल पुलको, और फिर उसके पास खड़े किसी ३॥ हाथ लम्बे आदमीको देखिये। देखिये मनुष्यके जग-परिवर्तन करनेकी शक्तिको। यह विज्ञान(ब्रह्म)-वादियोंकी तरहकी शक्ति नहीं है, वैसी शक्तिवाले आगरे और काँके (राँची) में काफी मिलेंगे, किन्तु उन्होंने एक छछूँदर भी पैदा करके नहीं दिखाई। और जब ५०,००० और ६०,००० टन, (१५,००,००० और १८,००,००० पंद्रह और अठारह लाख मन) के किसी क्वीनमेरी जहाजको आप देखते हैं, उस वक्त भी डेढ़ मन भारी आदमीकी परिवर्तन करनेकी शक्तिको समझ सकते हैं। वैज्ञानिक भौतिकवादी मनुष्यके कोरे सपनाने पर नहीं, बल्कि वास्तविक परिवर्तनकी शक्ति पर विश्वास करते हैं, और जगत्को बेहतर रूपमें परिवर्तित करनेके लिये उसे इस्तेमाल करना चाहते हैं। सोवियत् मध्य-एसियामें कराकल्पककी हजारों

मील विस्तृत निर्जल निर्जन भूमि है। वहाँ छोटी-छोटी घास उगती थी, जिसके सहारे लाखों भेड़ें, घोड़े, ऊँट पाले जा सकते थे, किन्तु वहाँ पीनेका पानी नहीं था। जमीनके पेटमें पानी प्रचुर परिमाणमें था, किन्तु वह कास्पियन समुद्रके जलसे भी ज्यादा खारा (नमकवाला) था। नमक वेकार चीज नहीं, पानी वेकार चीज नहीं, घास वेकार चीज नहीं, क्योंकि उनकी सहायतासे अपार सम्पत्ति—नफा कमानेकी ही नहीं, मनुष्यके जीवनको सुखी और समृद्ध बनानेवाली—पैदा की जा सकती थी, किन्तु आदिकालसे करा-कल्पक पथिकके हृदयमें सिर्फ भारी भय संचार करनेका कारण बना रहा। जब सोवियतोंकी घोर भौतिकवादी सरकार कायम हुई, मनुष्यने जग-परिवर्तन करनेके लिये साइंसके हथियारको हाथमें लिया; तो कराकल्पककी उस मरुभूमिमें बड़े-बड़े स्यूब-वेल् लगाये गये, बड़े-बड़े जलाशय बनाये गये। जाड़ेमें पाँच-छै महीने तक इस करा (काले) रेगिस्तानमें पानी जम जाया करता है। उस समय स्यूब-वेल्से पानी निकाल-निकालकर इन सीमेंट किये तालाबोंमें भरा जाता। सर्दीसे शुद्ध पानी वर्फ बन जाता और नमक नीचे तलछटके तौर पर वैठ जाता। इन वर्फकी चट्टानोंको हजारों मनुष्य और मशीनें दूसरे महान् सरोवरोंमें डालते रहते हैं। गर्मी आने पर वर्फ पिघलकर वहाँ शुद्ध जलकी अपार जलराशि जमा हो जाती। आज कराकल्पककी भूमिसे लाखों टन नमक निकलता है, करोड़ों-करोड़ भेड़ें तथा दूसरे पशु मांस, ऊन, चमड़ा और दूध प्रदान कर रहे हैं। आज वहाँ बिजलीकी रोशनी, रेडियो, सिनेमा, पुस्तकालय, अस्पताल, होटल, रेस्तोरांसे सुसज्जित शहर और कस्बे आबाद होते जा रहे हैं। मनुष्य जगत्के परिवर्त्तित करनेमें जोर-शोरसे लगा हुआ है।

मनुष्यने अपने सामाजिक (वैयक्तिक नहीं) प्रयत्नने मस्तिष्कको विकसित किया, साइंसको पैदा किया, अब उसकी सहायतासे वह जग-परिवर्तनको और तेजीसे कर रहा है। तो भी इस परिवर्तनके साथ खुद

समाजके परिवर्तनमें गति अत्यन्त मन्द रही है, लेकिन अब वह समझने लगा है, जग-परिवर्तन करते हुए अपने तथा अपने समाजको अछूता रखनेकी कोशिश नहीं करनी चाहिये, बल्कि दानको घरसे शुरू करना चाहिये। इसीलिये यहाँ "समाजवादकी जय", इसीलिये यहाँ "साम्यवाद-की जय", इसीलिये यहाँ "पूँजीवादकी क्षय" करनी है।

(vi) *सत्य बनाया नहीं जाता*—वैज्ञानिक भौतिकवाद घटना—प्रवाहवाली इस वास्तविक दुनियाँसे अलग सत्यकी दुनिया खोजनेकी गलती नहीं करता। दार्शनिक काफी ऐसे हैं और हुए हैं, जो इस भौतिक दुनियाके पीछे एक आत्मा, ब्रह्म, या मन (विज्ञान)की वास्तविक लोकोत्तर दुनियाके पानेका दावा करते हैं। ऐसा दावा करनेवालोंके बारे-में हम यही कह सकते हैं, कि उन्होंने वहाँ 'सत्य' को पाया नहीं—पैदा किया। किन्तु 'सत्य' पाया जाता है, पैदा नहीं किया जाता है। इस विद्यमान दुनियासे इन्कार कर इस तरह सत्यका पैदा करना सिर्फ मनका लड्डू है, जिसे हाथमें लेकर परीक्षा नहीं कर सकते, जो किसीकी भूखको तृप्त नहीं कर सकता। हम जिसकी वैज्ञानिक परीक्षा नहीं कर सकते, वह सिर्फ मूढ विश्वासकी बात भर हो सकता है।

(vii) फ्वेरबाखपर ग्यारह सूत्र—हेगेल्के द्वंद्ववादको मार्क्स तक पहुँचानेमें लुडविग् फ्वेरबाख (१८०४-७२ ई०) का खास हाथ है। फ्वेरबाखने "ईसाइयत-सार"[1] नामसे एक बहुत ही विचारपूर्ण पुस्तक लिखी थी,[2] जिसे पढ़नेके बाद मार्क्स (१८१८-८३ ई०)ने १८४५ ई० में एक नोटबुकमें ग्यारह बातें नोट कर दी थीं। मार्क्सकी मृत्युके बाद १८८८ ई० में एन्गेल्स जब मार्क्सके कागजोंकी देखभाल कर रहे थे, तो उन्हें ये नोट मिले, जो "फ्वेरबाखपर नोट"[3] के नामसे

[1] Essence of Christianity.

[2] देखिये "दर्शन-दिग्दर्शन"

[3] Thesis on Feuerbach.

मशहूर हैं। वैज्ञानिक भौतिकवादके समझनेके लिये तरुण (२७ वर्ष) मार्क्सके ये सूत्र बहुत सहायक साबित हुए हैं।—

१. अबतक विद्यमान हर एक भौतिकवाद—जिसमें फ्वेरबाख का भी शामिल है—में प्रधान दोष यह है, कि (उनमें) विषय [बाह्य पदार्थ], वास्तविकता, इन्द्रियगोचरताको *मानुषिक इन्द्रियगोचरीय क्रिया,-प्रयोगके तौर पर नहीं*, मानसिक तौर पर नहीं, बल्कि सिर्फ विषय या चिंतन[1]के तौरपर ही ग्रहण किया जाता था। इस तरह भौतिकवादके विरोधमें विज्ञानवादने क्रियावाले पहलूको विकसित करनेका मौका पाया ; किन्तु [हाँ] निराकार रूपमें ही, क्योंकि विज्ञानवाद किसी वास्तविक इन्द्रिय-गोचरीय क्रियाको स्वीकार नहीं करता। फ्वेरबाख़ विचारके विषयों [मानसिक कल्पना-चित्रों] से वस्तुतः भिन्नता रखनेवाले इन्द्रियगोचर विषयोंको स्वीकार करता है; किन्तु वह स्वयं मनुष्यकी क्रियाको *विषयों* (बाह्य पदार्थों) के *द्वारा* होनेवाली क्रियाके तौरपर ख्यालमें नहीं लाता। इसीका परिणाम है, जो कि "ईसाइयत-सार" में सैद्धान्तिक मनोभावको ही वह एकमात्र शुद्ध मानवीय मनोभाव समझता है, और प्रयोगको वह सिर्फ उस [मानवीय मनोभाव]की दिखलावटी गंदी 'म्लेच्छ'-मूर्ति मानता और निश्चित करता है, इसीलिये वह व्यवहार-गाम्भीर्य-समन्वित क्रान्तिकारी क्रिया [प्रयोग] के महत्त्वको समझ नहीं पाता।

२, साकार सत्य क्या मनुष्यकी समझ द्वारा प्राप्त किया जा सकता है? यह प्रश्न सैद्धान्तिक नहीं व्यावहारिक प्रश्न है। सत्य—अपने सोचनेकी वास्तविकता, शक्ति, 'इस-ओर-पन'—को प्रयोग [क्रिया] में मनुष्यको सिद्ध करना होगा। प्रयोग [क्रिया] से रहित चिन्तनकी वास्तविकता या अवास्तविकताके बारेमें

[1] Contemplation.

विवाद करना सिर्फ मतवादोंवाला सवाल [है, अतएव व्यर्थ] है।

३. मनुष्य परिस्थितियों और [पारिवारिक] पालन-पोषणकी उपज है; इसीलिये परिवर्तित मनुष्य [किन्हीं] और परिस्थितियों[1] तथा परिवर्तित पालन-पोषणकी उपज हैं।—भौतिकवादी सिद्धान्त यह भूल जाता है कि परिस्थितियाँ भी उसी तरह मनुष्य द्वारा बदली जाती हैं, और शिक्षकको स्वयं शिक्षा प्राप्त करनी होती है। इसलिये इस सिद्धान्तको समाजको दो हिस्सोंमें बाँटनेकी बातपर आना पड़ता है, जिनमेंसे एक (राबर्ट ओवेनके रूपमें) समाजके ऊपर आसन लगाता है।

परिस्थितियों और मानवीय क्रियाओंके परिवर्तनको एक ही साथ (लानेकी बात) क्रान्तिकारक प्रयोगके तौरपर ही माना और बौद्धिक तौरसे समझा जा सकता है।

४. फ्वेरबाख् मज़हबी आत्म-बहिष्कार—दुनियाको दो मजहबी काल्पनिक तथा वास्तविक दुनियाओंमें बाँटना—को लेकर शुरू करता है। मजहबी दुनियाको उसके संसारी उपादानमें विलीन करना फ्वेरबाखका काम है। उसका ध्यान इस ओर नहीं जाता कि यह कर चुकने पर भी मुख्य बात करनेको रह जाती है; क्योंकि, सांसारिक उपादान अपनेको अपनेसे ऊपर उठा एक स्वतंत्र लोकके तौरपर स्थापित करता है; [फ्वेरबाख़ने जो यह ईसाई स्वर्गकी व्याख्याकी है] उसकी यह व्यख्या इस सांसारिक उपादानके आत्म-भेद (अपनी फूट) और आत्म-विरोधिता द्वारा ही की जा सकती है। इसलिये सांसारिक उपादान [ईसाई स्वर्गसे भिन्न यह हमारी ठोस दुनिया] को ही सबसे पहले उसके [आन्तरिक] विरोधके रूपमें समझना होगा, और तब विरोधको हटाकर प्रयोगमें उसे आमूल परिवर्त्तित करना होगा। इस तरह,

---

[1]. Secular.

उदाहरणार्थ एक बार जहाँ पता लग गया कि (पवित्र सन्त-परिवारके भीतर) सांसारिक परिवार (का ख्याल) छिपा हुआ है, तो खुद सांसारिक परिवारका ही सैद्धान्तिक (शास्त्रीय) तौरसे खंडन और प्रयोग द्वारा मौलिक परिवर्तन करना चाहिये।

५. फ्वेरबाख़ *निराकार चिन्तन* से सन्तुष्ट न हो, इन्द्रियगोचरतायुक्त चिन्तनमें प्रवृत्त होना चाहता है; किन्तु इन्द्रियगोचरताको वह एक व्यावहारिक [प्रयोग-लायक] मानवीय इन्द्रियगोचरता-युक्त क्रिया नहीं ख्याल करता।

६. फ्वेरबाख़ मजहबको उसके मानवीय सारमें लेता है। किन्तु, यह मानवीय सार एक-एक व्यक्तिमें सदा पाई जानेवाली निराकार-कल्पना नहीं है। तहमें पहुँचनेपर वह सामाजिक संबंधोंका पुंज [मुरब्बा] है।

फ्वेरबाख़ इस वास्तविक सारको खंडन करनेका प्रयत्न नहीं करता; इसीलिये वह [निम्न बातोंके लिये मजबूर है]—

(१) ऐतिहासिक घटना-प्रवाहसे निकालकर धार्मिक भावनाको अपने लिये खास चीजके तौरपर स्थिर करना, और एक निराकार—अलग-थलग—मानवीय व्यक्तिको पहलेसे मान लेना।

(२) अतएव मानवीय सार, फ्वेरबाख़के मतसे, केवल [न्यायशास्त्रकी] *जाति*—जिसका काम है, मूक [निष्क्रिय] आन्तरिक समानता [गायपन] के तौरपर, बहुतसे व्यक्तियों [गाय-शरीरों] को *स्वभावतः* मिलाना—के तौरपर समझा जा सकता है।

७. इसीलिये फ्वेरबाख़को नहीं सूझ पड़ता, कि 'धार्मिक भावना' खुद एक *सामाजिक* उपज है। जिस निराकार व्यक्तिका

उसने [अपने ग्रंथमें] विश्लेषण किया है, वह वस्तुतः एक खास प्रकारके समाजका [व्यक्ति] है।

८. सामाजिक जीवन सारतः व्यावहारिक [प्रयोगात्मक] है। सभी [दिव्य-] रहस्य—जो सिद्धान्तको रहस्यवादकी ओर भगा ले जाते हैं—मानवीय व्यवहार [प्रयोग] तथा उस व्यवहारके समझनेसे बौद्धिक तौरपर हल हो जाते हैं।

९. चिन्तनमूलक भौतिकवादके द्वारा सबसे बड़ी बात जो मिली है, वह 'नागरिक समाज'में अकेले व्यक्तियोंका दृष्टि-कोण है।

१०. प्राचीन भौतिकवादका दृष्टिविन्दु 'नागरिक समाज' है, नवीन [भौतिकवाद] का दृष्टिविन्दु है *मानवतायुक्त* समाज या समाजवाद-युक्त मानवता।

११. दार्शनिकोंने भिन्न-भिन्न तरीकेसे जगत्की सिर्फ व्याख्या की है, और अब बात है उसके *बदलनेकी*।

फ्वेरबाख़पर मार्क्सने जो ये ग्यारह सूत्र लिखे हैं, वह बिना भाष्य और विवरणके समझमें आना इसलिये भी मुश्किल है; क्योंकि उनमें हर जगह फ्वेरबाख़की 'मास्टर-पीस' (श्रेष्ठ कृति) 'ईसाइयत-सार' की ओर संकेत है। भाष्य-विवरणकी जरूरत समझते हुए भी मैं उस लोभ-का संवरण करना चाहता हूँ; क्योंकि पुस्तकके विस्तारका ख्याल जरूर रखना है और साथ ही फ्वेरबाख् और उसके 'ईसाइयत-सार' पर मैं "दर्शन-दिग्दर्शन"में लिख चुका हूँ। यहाँ, पाठक यदि सिर्फ इतना मनमें रखें, तो कुछ काम चल जायगा, कि फ्वेरबाख़ने ईसा-मसीह, पवित्रात्मा, पिता-ईश्वर, परलोक (स्वर्ग-नर्क), फरिश्ता आदि सभी ईसाई कल्पनाओंका आधार इसी हमारे चातुर्भौतिक जगत्को माना है, और ईसाइयतकी अलौकिकतापर भारी प्रहार किया है। मार्क्सने फ्वेरबाख़को कुछ बातोंमें और आगे न बढ़नेके लिये फटकारा भी है,

तो भी फ़्वेरबाख्‌के महत्त्वको वह कम नहीं मानता। फ्वेरबाख् कहता है—

"धर्म मनुष्यको अपने आपसे अलग कराता है; (इसके कारण) वह (मनुष्य) अपने सामने, अपने प्रतिवादीके तौरपर, ईश्वरको ला रखता है। ईश्वर वह है, जो कि मनुष्य नहीं है—मनुष्य वह है, जो कि ईश्वर नहीं है।...ईश्वर और मनुष्य दो विरोधी छोर हैं; ईश्वर पूर्णतया भावरूप, वास्तविकताओंका योग है; मनुष्य पूर्णतया अभाव-रूप (अकिंचन) सभी अभावोंका योग है।..."[1]

३. परिवर्तनकी घटना-शृंखला

जगत्‌के परिवर्तनकी व्याख्या जगत्‌से करना, वैज्ञानिक भौतिकवाद-का सबसे मुख्य काम है, यह अब तककी लिखी पंक्तियोंसे स्पष्ट हो गया होगा। अब यह बतलाना है कि परिवर्तन—आमूल परिवर्तन—किन अवस्थाओं, सीढ़ियोंसे गुजरता है। यह सीढ़ियाँ वैज्ञानिक भौतिकवाद-की त्रिपुटी हैं—

(१) विरोधि-समागम, (२) गुणात्मक परिवर्तन और (३) प्रतिषेध-का प्रतिषेध। वस्तुके उदरमें विरोधी प्रवृत्तियाँ जमा होती हैं, इससे परिवर्तनके लिये सबसे आवश्यक चीज़—गति—पैदा होती है। फिर हेगेल्‌के द्वन्द्ववादी प्रक्रियाके *वाद* और *प्रतिवाद* के संघर्ष से *संवाद* रूपमें नया गुण पैदा होता है, इसे दूसरी सीढ़ी गुणात्मक-परिवर्तन कहते हैं। पहले जो *वाद* था, उसको भी उसकी पूर्वगामी कड़ीसे मिलानेपर वह किसीका प्रतिषेध करनेवाला संवाद था, अब गुणात्मक-परिवर्तन—आमूल परिवर्तन—जबसे उसका प्रतिषेध हुआ, तो यह *प्रतिषेधका प्रतिषेध* है।

(१) विरोधि-समागम—

दो या अधिक एक दूसरेसे गुण और स्वभावमें विरोधी वस्तुओंका समागम दुनियामें पाया जाता है, यह बात हरएक आदमीको जब-तब

---

[1] Atheism p. 33

नज़र आती है। किन्तु, उसे देखकर यह ख्याल नहीं आता कि एक बार इस विरोधि-समागमको मान लेने पर फिर विश्वके संचालक ईश्वरकी जरूरत नहीं रहती, न किसी अभौतिक रहस्यमय दिव्य-नियमकी आवश्यकता। विश्वके रोम-रोममें गति है, दे-कार्तने (अरस्तू, उदयन और ग़ज़ालीने भी) कहा कि गतिका स्रोत ईश्वर है। दो परस्पर-विरोधी शक्तियों (वस्तुओं, घटना-प्रवाहों)का मिलना ही गति पैदा करनेके लिये पर्याप्त है। गतिका नाम विकास है—या लेनिन्के शब्दोंमें कहिये—"विकास विरोधियोंके संघर्ष (का नाम) है।"[1] विरोधी जब मिलेंगे तो संघर्ष जरूर होगा, और, संघर्ष नये स्वरूप, नई गति, नई परिस्थिति अर्थात् विकासको जरूर पैदा करेगा, यह बात साफ है। अंटाघरमें बिलियार्ड खेलनेवाले देखते हैं: मेज़ पर दो विरोधी दिशाओंकी ओर गति रखनेवाले गेंद चल रहे हैं। यदि उनकी गति विरोधी न हो, तो उनका मिलन न होगा। यदि विरोधी गति होनेसे एक-एक तरफ़से आता है, दूसरा दूसरी तरफ़से, तो दोनों विरोधियोंका समागम होता है—यह विरोधके समागम पैदा करनेमें हेतु होनेका दृष्टान्त है। किन्तु, मामला यहीं खतम नहीं हो जाता। दो विरोधी गेंदों (अंटों)का जब समागम होता है, तो उनके गुणोंमें भी परिवर्तन हो जाता है: एक अंटा पूर्व को जा रहा था, दूसरा उत्तरको; दोनों मिलते—टकराते—हैं, अब उनके वेग (गति)की दिशा पूर्व या उत्तरकी ओर न रहकर नई दिशामें होती है, यह वेगका गुणात्मक परिवर्तन (दिशात्मक परिवर्तन) है। खैर, इसे आगेके लिये छोड़िये। यहाँ यह तो स्पष्ट है कि विरोध शक्ति या क्रियाका नाम है, जो विरोधीके स्वभावमें है। उस क्रियाके होने पर समागम होना, और समागमसे नये गुण, नये स्वभावका पैदा होना अनिवार्य है।

(१) *व्याख्या*—अफलातूँ बहस करता था—हमारी कुर्सीका काठ कड़ा है, कड़ा न होता तो हमारे बोझको कैसे सहारता?

---

[1] Materialism p. 324

और काठ नर्म है, यदि नर्म न होता, तो कुल्हाड़ा उसे काट कैसे सकता ? इसलिये, काठ कड़ा और नर्म दोनों है—भूत (भौतिकतत्त्व) परस्पर विरोधी पदार्थ है। अफलातूँ ठीक स्थान पर पहुँच गया था, निशाना ठीक लगा था; किन्तु वह बहक गया। उसने सत्य पर पहुँचनेके लिये प्रकृति (प्रयोग) को छोड़, कल्पना पर अधिकतर आधारित तर्क-शास्त्रको अपना पथ-प्रदर्शक बनाया। और परिणाम ? दो विरोधी गुणोंका एक जगह होना असम्भव है, इसे बुद्धि स्वीकार नहीं कर सकती ; इसलिये यह कड़ापन, यह नर्मपन और स्वयं यह भूत ही अ-सत्य—सत्ता न रखनेवाला—है ; जो सत्ता है, वह इससे परे है, जिसे हमारी पथ-प्रदर्शिका कृपामयी बुद्धि दिखलाती है। उसका ख्याल इधर नहीं गया, कि आप चले थे वस्तु(कुर्सी)की परीक्षा करने—कुर्सी क्या है ? कुर्सी बेचारी जैसी है (कड़ी+नरम) वैसा रूप दिखलाती है। आपको कुर्सीकी ईमानदारी पर विश्वास रखना चाहिये था ; क्योंकि उसने आपके मनको लुभानेके लिये (बुद्धि-संगत बननेके लिये) बढ़ा-चढ़ाकर नहीं कहा; बल्कि एक तरह अपनी हीनता—दोष—को दिखलाया। लोग बाजारमें सिर्फ नफा कमानेके लिये बैठे हुए बनियेकी भी इस तरहकी बात पर ज्यादा विश्वास करते हैं ; फिर वहाँ कुर्सी बेचारी आपसे नफा खानेके लिये भी बैठी नहीं है।

कुर्सी क्या है यह आप जानना चाहते थे। कुर्सी जो है, उसे उसने प्रकट किया। उसकी बातको इन्कार कर जो आप तर्क (कोरी बुद्धि या कल्पना) के फेरमें पड़कर यह कहते हुए लौट रहे हैं "यह गलत कहती है—यह हैही नहीं !!" गलत कहती है—कहती है !! और है नहीं तो भी कहती है !!! वाहरे बाँझके पुत्रके व्याह रचानेवाले !! आपके ऐसा पारखी यदि अपने ६ फीट लंबे दो मन भारी शरीरको सूक्ष्मकर इंचके दस करोड़वें हिस्सेके बराबर लंबे-चौड़े तथा तोलाके ५ लाख-लाख-अरबवें भागके बराबर भारी हाइड्रोजन परमाणुके भीतर घुस पाता, और वहाँ वह नाभिमें अवस्थित

१/१० करोड़-करोड़ इंचके १/१२'५ हजार-लाख-लाख-लाख तोला भारी कण (प्रोटन)के गिर्द उससे काफी फासिलेसे १/१५ लाख-लाख इंचके १/६२'५ लाख-लाख-लाख-लाख तोला भारी दूसरे कण (एलेक्ट्रन्) को बड़ी तेजीसे घूमते देखता। शायद किसी "मानव-वस्ती"से बहुत दूर इस सुनसान बयाबानमें इस नृत्यको देखकर प्रसन्नता होती—आखिर अफलातूँ भी प्रकृतिकी मनोहारिणी छटाका आनंद कभी-कभी लेता जरूर रहा होगा। (माना सुक्रात जैसे मनीषी निरपराध महापुरुष के मारे जाने, तथा अपने सामन्त-परिवारको अधिकारच्युत कर उनका स्थान लेनेवाले अथेन्सके बनिया-शासकोंके उस अत्याचारके कारण उसका मन दुनियासे बहुत छोटा होगया था, तो भी यौवनमें प्रकृतस्थ रहते समय सामन्त-परिवारकी सुन्दरी अथेन्स-नागरी अपनी पत्नीके अधरोंको उसने कभी मधुर तो जरूर पाया होगा)। हाँ, यदि नृत्यसे "आँखों" को तृप्तकर जैसे ही अफलातूँ उन दोनों कणोंके पास पहुँचता, देखता कि बाहरवाला कण (एलेक्ट्रन) बड़े जोरसे उसे धक्का दे रहा है। शायद अफलातूँ जैसा तत्त्वपरीक्षक इसे बुरा न मानता, समझ लेता—अभी अथेन्सके नागरिकोंकी भाँति यह शिष्टाचार-निपुण नहीं हुआ है, या उपनिषद्की "अतिथि देवो भव"[1] (आगन्तुकको अपना न बना आगन्तुक ही रख घरबार उसे हाथमें सौंप दो) की शिक्षा न पा, ब्राह्मणके अदर्शनसे अभी वह म्लेच्छ ही रह गया है। किन्तु यदि किसी तरह वह भीतर वाले कण (प्रोटन्)के पास पहुँच पाता, तो अंधे धृतराष्ट्रके लौह-भीमके आलिंगनवाला तजर्बा अपने सिर पड़ता।—और मालूम होता वह तो ऐसा आलिंगन (आकर्षण) करना चाहता है, कि हड्डी-पसली भी साबित नहीं रहे। एकके धक्के और एकके "आलिंगन"के ताज़े तजर्बे-के बाद अफलातूँ जैसे सम्भ्रान्त सामन्त-परिवारके एक भद्र पुरुषकी क्या राय हो सकती थी, इससे हम यही समझ सकते हैं, कि वह उनको

[1] अतिथिको देवता मानो।

असभ्य, जंगली, बर्बर कहता, और गुस्सा शान्त होनेपर यदि दार्शनिकों-की सहृदयतासे काम लेता तो क्लाइव या रोडस्को उन्हें सभ्य बनानेके लिये भेजता। किन्तु हमारे इस अफलातूँने अपनेको सहृदयता-असहृदयता, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, कर्म-अ-कर्म सबसे ऊपर उठाया, अपनेको ठीक अफलातूनी "विश्वरूप" में दिखलाया—(हाइड्रोजन) परिमाणु = एलेक्ट्रन् + प्रोटन, और एलेक्ट्रन् = — बिजली, प्रोटन् = + बिजली। — = ० (ऋण + धन = शून्य)। हमने जो देखा, छोड़ो बाबा उसे, उससे भर पाया, भगवान् ऐसी गत किसीकी न बनाये। किन्तु, हमारी गुरु पथ-प्रदर्शिका, बुद्धि (तर्क, कल्पना) जो कुछ कहती है, हम तो उसके माननेवाले हैं। वह बतलाती है, इस तरहकी ऋण-धन-संयुक्त, परस्पर विरोधी वस्तुओंका समागम (परमाणु) तीन कालमें नहीं हो सकता; इसलिए परमाणु है ही नहीं, एलेक्ट्रन् है ही नहीं, प्रोटन् है ही नहीं। एलेक्ट्रन् अब भी अफलातूँको अपनी उजड्ड भाषामें कह रहा है—"आओ, दार्शनिकप्रवर! मेरे पास आओ, और खुद देखो कि मैं हूँ या नहीं।" दूरसे प्रोटन् अपनी दो हजार गुनी तेज आवाजसे चिल्लाकर कह रहा है—"स्पार्टनवीर नहीं, अथेन्सके विलासी कायरोंकी सन्तान! जरा इधर तो आ, यदि मैं हूँ ही नहीं, तो आनेमें क्या उज्र है?"

हमारा सौभाग्य है कि आजके साइंसवेत्ता अफलातूँके तर्कका अनुसरण नहीं करते—कमसे कम उस वक्त, जब कि वह रविवारके दिन चर्च या विश्वनाथके मंदिरमें न हो, साइंसकी प्रयोगशालामें रहते हैं। वह प्रकृतिके उदरमें उसके रोम-रोममें व्याप्त इस विरोधि-समागमको दूषण नहीं, भूषण समझते; और रोटीको कड़ी और नरम दोनों पा, उसे फेंककर भूखा मरना नहीं पसंद करते। साइंसवेत्ता हैल्डेनके शब्दोंमें[1]—"अफलातूँकी भाँति मेज नरम और कड़ी दोनों है (इसलिये नहीं

[1] Marxist Philosophy and the Sciences. p. 30.

है)—कहनेकी जगह हम कितनी ही बारीक नापोंसे पता लगाते हैं कि काठ कितना कड़ा है, इसकी टुटानका जोर कितना है, आदि।"

अफलातूँके योग्य शिष्य अरस्तूने मनोमयी दुनियासे नीचे उतरनेकी कोशिश जरूर की; किन्तु उसकी प्रथम महान् प्रसूति *तर्कशास्त्र*ने अफलातूँकी कृपामयी तर्कं बुद्धिको सामन्त-रानीकी जगह चक्रवर्त्तीरानी (राजराजेश्वरी, मलका-मुअज़्ज़मा) बनानेकी पूरा कोशिश की। संसार-के व्यवहार (प्रयोग) ने तर्क-विद्याको पैदा किया था। मगर, यह शोख़ लड़की बाज़ारमें अपनी कीमत बढ़ी देख माँ-बापको पहिचाननेसे इन्कार करती है। अरस्तूने कहा कि वस्तु और तदनुकूल गुण तो ठीक है; किन्तु इससे उलटी बात करनी गलत है। हेगेल्ने कहा—वस्तु अपने भीतर अनुकूल ही नहीं, प्रतिकूल—विरोधी—गुण भी रखती है, यही विरोध वस्तुमें पर-अनपेक्षित स्व-चालित गतिका स्रोत है, जिससे वह वस्तु अपनी गति—अपने आत्मविकास—के दौरानमें, एक दूसरी ही वस्तुके रूपमें अपनेको परिणित कर सकती है। लेकिन, *तर्कशास्त्र*के प्रणेता दो दिग्गजोंकी लड़ाईमें बेचारे सर राधाकृष्णन्की बुरी हालत हुई है। विश्वनाथके बेलपत्रको खाकर मालवीयजीकी गद्दीसे (सिंहासनबत्तीसीकी पुतलियोंकी भाँति) गीता-कथाका श्रद्धा और शर्मसे आये तरुणोंके कानोंमें इन्जेक्शन दे, लम्बी धोती-पगड़ी सँभालते अभी दर्वाजेसे वह बाहर निकलते ही हैं, कि यूनान और जर्मनीके दो मल्लोंको इस तरह हिन्दू विश्वविद्यालयके मैदानमें जूझते देखते हैं। राधाकृष्णन्के ख्यालमें पहले तो आया—जाने दो, दोनों सफेद मूज़ियोंको लड़ने दो। किन्तु, ज़रा ही देरमें मालूम हुआ, इस लड़ाईमें बाबा विश्वनाथ (जिनके बेल-पत्रको वह उससे भी ज्यादा श्रद्धा-भक्तिसे अभी खा चुके थे, जिससे शायद बाबाका नादिया भी न खाता होगा) भी खतरेमें हैं। हेगेल्की जीतका मतलब एक ही कदम आगे उसके शिष्य फ्वेरबाखकी जीत, मार्क्सकी जीत, भौतिकवादकी जीत, अनीश्वरवादकी जीत, पुराने-समाज

और धर्मके ध्वंसकोंकी जीत। माथा ठनका, राधाकृष्णन्‌की पतली-दुबली शान्त मूर्ति दुर्वासा बन गई। पगड़ी फेंकी, धोतीका कच्छा बाँधनेमें असमर्थ देख विद्यार्थियोंने मदद की। हिरनकी भाँति चौकड़ी मारते वह भी अखाड़ेके पास पहुँच गये। "बड़े-बड़े डूबे जायँ कौन कहे कितना पानी" की कहावत याद आई, कुछ ठमके; और ठमकनेमें एक और भी कारण हुआ, सोचने लगे 'अफलातूँ और शंकराचार्य दोनों भारी मित्र थे—वेदान्तमें देश-काल तीनों कालमें असत्य हैं—लेकिन, अरस्तू तो अपने गुरुका वैसा ही पक्का चेला नहीं है, जैसा कि मैं अपने गुरु शंकराचार्यका। फिर क्यों मैं इस कम्बख्त अरस्तूके गाढ़े वक्तमें काम आऊँ!' उसी वक्त अंध-पुत्र दुर्योधन (सुयोधन नहीं) की बात याद आई—हम अपने घरमें सौ और पाँच हैं, किन्तु बाहरवालोंके लिये १०५। बेचारे सर साहेब बेतहाशा बोल गये[1]—"भूत (जड़तत्त्व) जीवन या चेतनाका विकास नहीं कर सकता, जबतक कि उसके अपने स्वभावमें उन (के उत्पादन) की क्षमताएँ न हों। बाहरी वातावरणसे चाहे कितना ही धक्का क्यों न दिया जाय, केवल भूतसे जीवनको जबर्दस्ती निकाला नहीं जा सकता।" प्राच्य महाविद्यालयके विद्यार्थियोंने पहले इस रंगरेजीके पछुआ विदेशियोंके लिये दर्शनके एरंड-कल्पवृक्षके प्रति पहलेसे चली आई ईर्ष्याके कारण तटस्थ रहना चाहा; किन्तु श्रद्धेय महामहोपाध्याय बालकृष्ण मिश्रका इंगित देख उन्होंने आनंदबागके दयानंद-शास्त्रार्थका नज़ारा पेश कर दिया। बेचारा हेगेल् कहता ही रह गया—विश्वके गर्भमें सर्वत्र विरोध-समागम है, यह उसकी जबर्दस्त क्षमता है, जिससे वह कुछसे कुछ हो जाता है। सर्वपल्ली रट रहे थे–यह गलत है "मनुष्यके धार्मिक तथा आचारिक, दार्शनिक तथा ललित-कलात्मक उच्चतम तजर्वेके प्रति भक्ति हमसे माँग पेश करती है, कि हम काल (-आत)· भागी वास्तविकता

[1] Indian Philosophy. by Sir S. Radhakrishnan, Vol. I. p. 181

[भौतिक जगत्] के मूलको सनातन [ब्रह्म] में, सान्तके आधारको अन्तमें,
मनुष्यको ईश्वरसे उत्पन्न हुएके तौरपर स्वीकार करें।"[1]

विद्यार्थियोंकी तालीमें हेगेल्की आवाज़का दूर तक पहुँचना मुश्किल
था। अन्तमें वह हिन्दू-विश्वविद्यालयको यह कहकर कोसता चला गया—
"तो काहेको यह साइंस कालेज, इंजीनियरिंग कालेज, प्रयोगशाला,
रसायनशालाकी ईंट-चूनेकी इमारतों पर रुपया बर्बाद किया, यहाँ तो
दूसरे विश्वनाथ-मंदिर और दूसरे नादियोंकी जरूरत है।" विद्यार्थियोंने
जर्मन दार्शनिकके क्रोधपूर्ण परिहासको बिना समझे एक स्वरसे कह
डाला—"मालवीयजीकी कृपा है, दूसरी बार आओगे तो उसे भी देख
जाओगे, विदेशी म्लेच्छ कहीं के।"

हाँ, यदि हिन्दू विश्वविद्यालयकी कथाको बीचमें लानेसे गंभीर पाठकों-
को विरक्ति हुई हो, तो क्षमा करें। इस कथासे भी हम यही कहना
चाहते थे, कि प्रकृति (भूत) पारस्परिक विरोधोंकी खान है, वही उसका
जीवन, वही उसका स्वभाव है। राधाकृष्णन् जिस क्षमताको चाहते हैं वह
प्रकृतिके अपने पेटमें है। "मुझको कहाँ खोजे बंदे मैं तो तेरे पास में" के
अनुसार जब इतनी बड़ी जबर्दस्त शक्ति—क्षमता—प्रकृतिके पासमें नहीं,
पेटमें मौजूद है, तो उसे किसीके सामने हाथ पसारनेकी क्या जरूरत?
और भीतरमें मौजूद वह क्षमता न हो, तो "बाहरी वातावरण [ईश्वरको
भी, कृपया, ले लीजिये] से चाहे कितना ही धक्का क्यों न दिया जाय,
[विरोधि-समागम रूपी आन्तरिक क्षमतासे हीन द्वंद्वात्मकता-रहित] केवल
भूतसे जीवनको जबर्दस्ती करके निकाला नहीं जा सकता।"

(२) स्वरूप—विरोधि(योंके)-समागमको विरोधियोंका परस्पर-
अन्तर्व्यापन या एकता भी कहते हैं, जिसका अर्थ यह है कि ये विरोधी
सचमुच ही हिन्दू विश्वविद्यालयके अरस्तू-हेगेल् या भीम-जरासंधकी तरह
दो अलग व्यक्तियोंकी तरह मल्लयुद्ध नहीं कर रहे थे; बल्कि वे एक ही

[1]वहीं p 191

(अभिन्न) वास्तविकताके ऐसे दोनों प्रकारके पहलू होते हैं। ये दोनों विरोध, दार्शनिकोंको परमार्थकी तराजू पर तुले सनातन कालसे एक दूसरेसे सर्वथा अलग अवस्थित भिन्न-भिन्न तत्त्वके तौरपर नहीं रहते ; बल्कि वह वस्तुरुपेण एक हैं--एक ही समय, एक ही स्थान पर, अभिन्न होकर रहते हैं—कृपया इसे याज्ञवल्क्य या कबीर साहब (अथवा राधाकृष्णान्की भी) भाषा न समझकर सीधी-सादी प्रकृतिकी भाषा समझिये। पुराने यूनानी भी इस नियमको जानते थे—
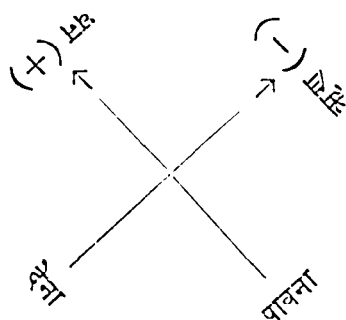
"जो कर्जखोरके लिये ऋण (देना) है, वही महाजनके लिये धन (पावना) है। (हमारे लिये) पूर्वका रास्ता (दूसरेके लिये) पश्चिमका भी रास्ता है। बिजली में धन और ऋणके छोर दो अलग स्वतंत्र तरल (पदार्थ) नहीं हैं।" [1]

---

[1] Logic by (Hegel)

लेनिन्ने विरोधको द्वन्द्ववादका क्षार (=सार) कहा है—और यह भी कि "(किसी) एक (वस्तु) का विभाजन और उसके विरोधका ज्ञान द्वन्द्ववादका सार है।"[1] पर एकता अभी-अभी सिर्फ एक क्षणकी मेहमान है, जैसे कि चलती मोटरके पहियेका छोर धरतीसे क्षण भरके लिये छूता है; और उसका उतना महत्त्व नहीं है, जितना कि उसके द्वारा शक्ति पाकर चलते रहते चक्केके रूपमें जो गति और परिवर्तन है उसका। तो इस प्रकार एक ही वस्तु (घटना-प्रवाह)में हम विरोधियोंका समागम भी पाते हैं; जिसका फल होता है विरोधियोंका संघर्ष ; और उसका परिणाम होता है समागम (एकता) का टूटना तथा 'नवीन' (तत्त्व) का प्रकट होना। मृत्यु (टूटने) से इस नवीनके प्रकट होने (जीवन) को खरीदा जाता है।

(२) *संघर्ष, समागम साम्यावस्था*—सभी वस्तुयें जड़-मूलसे बदलती, नई उत्पन्न होती हैं, सभी वस्तुयें प्रवाहमय बत्तीकी टेमकी तरह हैं—विश्वकी इस वास्तविकताके बारेमें बतला चुके हैं। समाज ऐसे विश्वका एक अंग है, इसलिये वह उसके कानूनसे बाहर कैसे जा सकता है। समाजमें भी आमूल परिवर्तन होता है; क्योंकि समाजके भीतर तथा उसके वातावरणमें विरोध-समागम मौजूद है। विरोधका अर्थ है हलचल, साम्यावस्थाका ध्वंस। प्रकृतिमें चिर-साम्यावस्था चाहना उससे आत्म-हत्याकी माँग करनी है। वह साम्यावस्थाको लाती है ; किन्तु मोटरके चक्केके भूमिसे छूनेकी तरह क्षण भरके लिये, साम्यावस्था स्वयं प्रवाहमय चंचल है। वह स्थापित होती है, नष्ट होती है, फिर स्थापित होती है, फिर नष्ट होती है···। किन्तु उन्हीं धागोंकी उधेड़-बुन नहीं है, सब चीज नई, हर क्षण नये चक्के, नया 'आकाश' (वेग-क्षेत्र), नई भूमि। इसी साम्यावस्थाको चढ़ा-बढ़ाकर हम स्थिति नाम देते हैं। अचल चित्रसे चल चित्र (सिनेमा) को हम ज्यादा पसंद करते हैं ; किन्तु प्रकृतिको अपना

---

[1] On Dialectics

सिनेमा चलाते देख हम तमाशा देखते बच्चोंकी तरह कहते हैं, "मा, मैं रेणुकाको 'घर आये' गाती देखना चाहता हूँ।" कितना ही माई-दाई करनेपर भी जब प्रकृति आपके लिये अपने सिनेमाकी गतिको रोकनेको तैयार नहीं होती, तो आप अपने मनसे एक नये स्थिर ध्रुव-संसारको रचने लगते हैं।—वहाँ वसन्त और वर्षाके ऋतु, वैचित्र्य तथा उसकी सुषमा न होती होगी, फिर वहाँ अश्वघोष और कालिदासकी भी जरूरत नहीं। आखिर—"धोबी बसिके का करे दीगंबरके गाँऊँ"। यदि आगरा-काँकेवाले जग-निर्माताओंकी भाँतिका आपका जगत् न होता और आप किसी इष्ट-मित्र या अपनी आजन्म सहधर्मिणी मुन्नूकी माँको भी उस अपने 'हाथकी' बनाई दुनियामें ले जाना चाहते, और बेचारी सती साध्वी हिन्दू पत्नीको उस देशकी भनक भी मालूम हो जाती; तो या तो सनातन धर्मके अनुसार वह कूएँमें कूदकर जान दे डालती या किसी अप-टू-डेट सखीका अनुकरण करते हुए अदालतमें तिलाककी भिक्षा माँगनेके लिये तैयार पाई जाती।

विरोधियोंका समागम, विरोधियोंका संघर्ष प्रकृतिको चिर-नवयौवन प्रदान करता है, चिर-नवयौवनका रास्ता यदि जरा-मरणके श्मशानसे जाता है, तो जिस तरह प्रकृतिको इसमें एतराज नहीं, उसी तरह सच्चे प्रकृति-पुत्रों और पुत्रियोंको भी एतराज नहीं होना चाहिये और न महादेवी वर्माकी तरह 'सांध्यगीत' के स्वरमें घड़ेके घड़े आँसू बहानेके लिये बैठ जाना चाहिये।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवादकी त्रिपुटी—विरोधिसमागम, गुणात्मक-परिवर्तन, प्रतिषेध-प्रतिषेध—हेगेल्की देन है। यह सुनकर तअज्जुब करनेकी जरूरत नहीं है कि ऐसा इज्जतदार दार्शनिक ऐसी नामाकूल हर्कत क्यों कर बैठा। वह या उसकी तरहके दूसरे इज्जतदार हैं या बेइज्जत, इसका निर्णय सदियोंमें होगा, फिक्र मत करें, यदि वास्तविकको वास्तविक, परिवर्तनशीलको परिवर्तनशील कहना और अपने मनसे गढ़कर 'नई

मौलिकता' को न उपस्थित करना इज्जतसे हाथ धोनेके लिये काफी है, तो ऐसी इज्जत अपने पास रखें। हेगेल् वेचारा था भी हमारा आदमी (पंजाबी भाषामें 'साडा वंदा')। उसे प्रच्छन्न भौतिकवादी नहीं कह सकते; क्योंकि गौडपादके प्रशिष्य प्रच्छन्न वौद्ध शंकराचार्यकी भाँति उसने अपनेको छिपानेकी कोशिश न की। द्वन्द्ववाद प्रकृतिका अभिन्न स्वरूप है, इसे उसने पहिचाना और स्वीकार किया; किन्तु जव विचारके आनन्दमें विभोर हो वह इस अपने महान् आविष्कारको कागजपर लिख-कर साटना चाहता था, तो वह प्रकृतिकी जगह 'विज्ञान' (अ-भौतिक-तत्त्व) पर सट गया--यों कहिये देवताओंका अमृत गलतीसे राहु-केतुके मुख में पड़ गया। लेविल ठीक जगह लगा दीजिये, सव काम वना वनाया है। मार्क्सने यही किया, और हेगेल्के दर्शनको शीर्पासनकी सासतसे वँचाया--हाँ मैं सासत ही कहता हूँ, चाहे जवाहरलालजी जैसे संभ्रान्त व्यक्ति भी उसे क्यों न अपना रहे हों। अच्छा, अव अपने असली विषय द्वन्द्ववादके दूसरे सूत्र गुणात्मक परिवर्तन पर चलें।

(२) *गुणात्मक परिवर्तन*—

"केवल परिमाणात्मक [नाप-तोल संवंधी] परिवर्तनही एक खास सीमा पार होनेपर गुणात्मक (नये गुणोंवाले) भेदोंमें बदल जाता है।"[1]

(१) *व्याख्या*—कार्वन डायोक्साइड (द्विआक्सित कार्वन) एक जहरीली गैस है, यदि शुद्ध द्वि-आक्सित कार्वनमें कोई साँस ले तो वह मर जायगा, किन्तु मनुष्यके जीवन धारणके लिये भी उसकी अवश्यकता है। मनुष्यके रुधिरमें ५% (पाँच सैकड़ा) द्वि-आक्सित कार्वनकी जरूरत है; जिसके विना आदमीका स्वास्थ्य और जीवन नहीं रह सकता। यहाँ मात्रा के भेदसे गुण (प्राण-रक्षण, प्राण-ध्वंसन) में भेद हो जाता है।

---

[1] "Capital" (by Marx) Vol. I

क्लोरिन् एक जहरीली गैस है, जिसे रसायनिक युद्धमें इस्तेमाल किया जाता है। सोडियम् (सोडा) एक तरहका क्षार है, जिसे पानीपर रखनेसे आग लग जाती है। इन दोनोंके परमाणुओंको खास परिमाणमें मिलानेसे खानेका नमक पैदा होता है—जिसमें न क्लोरिन् जैसी प्राण-संहारक गैसका गुण है, न सोडियम्का आग लगानेका गुण, बल्कि एक बिल्कुल नये गुणका प्रादुर्भाव होता है—वह अब खाद्य नमक है।

ये परिमाणके परिवर्तनसे गुणके परिवर्तन—परिमाणात्मक परिवर्तनसे गुणात्मक परिवर्तन—के उदाहरण हैं। आइये इसके बारेमें कुछ हेगेल्के मुँहसे सुने[1]—

"आदमी परिवर्तनको मंद गतिसे (थोड़ा-थोड़ा करते हुए) परिवर्तन लानेकी कोशिश करना चाहते हैं; किन्तु यह मंदगति (का परिवर्तन) सिर्फ अस्पष्ट परिवर्तन है, जो कि गुणात्मक परिवर्तनसे उलटा है। मन्दगतिमें दोनों वास्तविकताओं—चाहे उन्हें अवस्थाके तौरपर लीजिये या स्वतंत्र वस्तुके तौरपर—के संबंध रुके रहते हैं।··· परिवर्तनको (स्पष्टताके साथ) समझनेके लिये जिस (बात) की जरूरत थी वह हटाई हुई रहती है।···

"संगीत-संबंधी संबंधोंमें···जब आगे-आगेके स्वर आदि-स्वरसे क्रमशः आगे और आगे होते जा रहे हैं··(उस वक्त) एकाएक एक मुड़ान (मुड़ना-लौटना), एक ऐसा आश्चर्यजनक स्वर-समन्वय[2] प्रकट हो उठता है; जिसपर कि अभी तक बीती गतिसे *परिमाणानुसार* बढ़ते हुए नहीं पहुँचाया गया, बल्कि वह एक दूरस्थ क्रियाके तौरपर, एक दूरस्थ वस्तुके संबंधीके तौरपर प्रकट हुआ।

"[रसायनशालामें] धातुवाली आक्साइड (उदाहरणार्थ सीसा आक्साइड) आक्साइड [आक्सिजन-मिश्रित] होनेके एक खास

---

[1] Science of Logic Vol. I pp. 388— 90. [2] Concord

परिमाणवाले स्थानोंपर (पहुँचकर) बनते हैं, और अपने रंग तथा दूसरे गुणोंमें फर्क करते हैं। वह क्रमशः एक (रूप) से दूसरेमें लीन नहीं होते।...

"सभी (तरहके) जन्म और मरण, क्रमशः गतिसे नहीं होते, बल्कि इस (गति) की रोक हैं, और परिमाणात्मक परिवर्तनसे गुणात्मक परिवर्तन पर (मेंडक) कुदान करते हैं।....उत्पत्ति और लय पर विचार करते वक्त साधारण कल्पना समझती है कि जब उन्हें उसने *क्रमशः* प्रकट होते या विलीन होते कल्पितकर लिया, तो उन्हें समझ लिया। किन्तु...सत्ता (सद् वस्तु)में जो आम तौरसे परिवर्त्तन होते हैं, वह सिर्फ एक परिमाणसे दूसरे परिमाणके रूपमें ही नहीं होते, बल्कि गुणात्मक [एक गुणवाले रूप] से परिमाणात्मक [दूसरे परिमाणवाले रूपमें], तथा परिमाणात्मकसे गुणात्मक परिवर्तन होते हैं: यही *दूसरा* बन जाना है, *क्रमसे नाता तोड़ लेना* है।...

"पानी [बर्फ होनेके लिये] ठंडा होते वक्त लेईके (कड़े होनेके) तरीकेसे थोड़ा-थोड़ा करके कड़ा नहीं होता, बल्कि *यकबयक* कड़ा [बर्फ] हो जाता है। जब वह हिम [जमनेके] बिन्दु पर अच्छी तरह नहीं पहुँचा हो; हो सकता है (अभी) वह पूर्णतया तरल है (यदि वह निश्चल है), और हल्के तौरसे हिलानेसे कठोर अवस्थामें आ जाता है।"

(२) *जीवन और भूत*—भौतिकवादियों पर यह आक्षेप किया जाता है, कि वह तो जीवन और मन जैसी उत्तम वस्तुको जड़-तत्त्वकी कोटिमें ला देते हैं, इसीलिये हमने सर राधाकृष्णन्को 'हिन्दू-धर्म छूवा'के नामसे तो नहीं किन्तु उससे कुछ ऊँचे तल पर "मनुष्यके धार्मिक तथा आचारिक, दार्शनिक तथा ललित कलात्मक उच्चतम तजर्बेकी भक्ति" की गायगुहार लगाते और एक कलमवीरके तौर पर भीष्म-प्रतिज्ञा करते देखा: भौतिकवाद मेरी लाश परसे गुजरकर ही पुण्य-भूमि भारतमें घुस सकता है। लेकिन हम उन ऐसोंको विश्वास दिलाना चाहते हैं, कि

भौतिकवादी जीवन और मनको जड़ भौतिकतत्व हर्गिज नहीं मानते
कौन ऐसा गँवार होगा, जो कन्दको चीनी, चीनीको गुड़, गुड़को उ
ऊखको मिट्टी अतएव कन्द (कलाकन्द)को मिट्टी कहनेकी ग
करेगा। वैज्ञानिक भौतिकवादी प्रकृतिमें सर्वत्र गुणात्मक-परिवर्तन दे
और मानते हैं; और गुणात्मक परिवर्तनका मतलब है "उससे वि
वही नहीं।" मिट्टीमें वह गुण हर्गिज नहीं था, जो कि कन्दमें है, व
मिट्टी बिलकुल नहीं। कन्द और मिट्टी उन्हीं परमाणुओंसे बने हैं,
नष्ट होने पर वह उन्हीं "सृष्टिकी मूल ईंटों" के रूपमें रह जायेंगे,
वैज्ञानिक भौतिकवादी नहीं मानते। वैज्ञानिक भौतिकवादियोंकी मूल
परमाणु नहीं कण-तरंग, विच्छेद-युक्त घटना-प्रवाह हैं, जिनके खमी
भी क्षण-क्षण नाश-उत्पादका नियम मिला हुआ है। इसलिये कन्द
मिट्टीमें उन्हीं परमाणुओंके समझनेकी गलती नहीं करनी चाहिये। क
मिट्टीसे हुआ है यह मान सकते हैं, किन्तु कन्द मिट्टी है, इस बातकी तोह
हमपर नहीं लगाई जा सकती। यह सच है जीवन या मन जिससे पै
हुआ है, वह भूत [भौतिकतत्त्व) ही है, किन्तु मन भूत हर्गिज नहीं है
किसी तरहसे भी नहीं, चाहे उसके अन्तस्तल में घुसकर देख लें
वह बिल्कुल गुणात्मक परिवर्त्तन, पूव (भूत) प्रवाहसे टूटकर नया प्रव
है। कृष्ण भगवान्का बेटा जीवे, उनके गीतोक्त परम सात्विक आहार
महत्त्वपूर्ण व्याख्या—जिसके समझनेमें सर राधाकृष्णन्की दार्शनि
बुद्धि भी पूर्णतया कुंठित है, और अपने गीतोपदेशमें उसके असली अर्थ
उन्होंने कभी श्रोताओंको नहीं बतलाया होगा—पर मुझे पूर्ण विश्वास
यद्यपि उस महापुरुषके "सपत्नीक" नाम धारण करनेसे उनका कर्त्त
जरूर इस बातका तकाजा रखता था।—आज सम्भ्रान्त हिन्दुओंके घ
घरमें परम सात्विक अंड-खाद्यका प्रचार हो रहा है, और ऐसा ही को
अभागा होगा, जिसने भोग लगाते वक्त पावकपूत इस कोमल
शालिग्रामको हाथसे फोड़कर देखा न हो। यदि आपने इस सात्वि

ब्रह्म-अंडको भीतरसे न देखा हो, तो एक वार जरूर तोड़कर देखिये। वहाँ कहीं छोटे-छोटे पंखवाले उस चूजेका पता नहीं मिलेगा, जिसे आप बाईस दिन बाद उससे निकला देखेंगे। यदि जैसा कि मुर्गी माईने उसे दिया है, उसी तरह आपने फोड़ा तो बाहरी खोलके भीतर पहले एक सफेद तरल खोल पायेंगे, वह उन्हीं रसायनिक तत्त्वोंका है, जो कि हमारी हड्डी, संगमर्मर और चीनीमें मिलते हैं। उसके भीतर केसरिया रंगका तरल (रस) भरा हुआ है। वहाँ, खूब अंगुली आँख गड़ा गड़ाकर देख डालिये, सिवाय पीले, सफेद तरल रसके और कुछ नहीं पाइयेगा—यदि उबले हुये अंडेको फोड़ें, दोनों प्रकारके इन तरल तत्त्वोंको दो रंगोके आलूके गुद्देकी शकलमें देखेंगे। सद्यः प्रसूत अंडेकी अवस्था और चूजेमें जमीन-आसमानसे भी भारी अन्तर है, इसलिये जीव और भूतको एक कहना सरासर गलती है; साथ ही यह उससे भी भारी गलती है, कि गुणात्मक परिवर्तनकी अद्भुत क्षमता रखनेवाली प्रकृतिको उसके इस जन्मसिद्ध अधिकारसे वंचितकर जीवन या मनको कहीं बाहरसे आई चीज माना जाये।

चूजा तो मिट्टीसे गुड़ तकके गुणात्मक परिवर्तन-जैसा है। जब हम उसे मिट्टी (भूत) माननेके लिये तैयार नहीं, तो कन्द-जैसे सर्वोच्च विकासके धनी मनुष्यको भूत (भौतिक तत्त्व) मानना वैज्ञानिक भौतिकवादसे उतना ही संबंध रखता है, जितना गदहेके सिरसे सींग। मनुष्य भूतका सर्वोच्च गुणात्मक परिवर्तन है। उसकी मानसिक, आचारिक शक्ति अद्भुत है। मनुष्य सोचता है, स्नेह-प्रेमके लिए आत्मोत्सर्ग करता है, कला और सौन्दर्यका आनंद लेता है, उदार भावनाओंसे पूर्ण उत्तम कार्य करनेकी उसमें क्षमता है। वह प्रकृतिकी आकस्मिक घटना या उपज नहीं है, और न वह केवल पशु है। लेकिन, ये सारे उच्च गुण सारी श्लाघनीय विशेषताएँ किसी ऐसे आत्मिक—विज्ञानमय (ब्रह्ममय) जगत्से नहीं आई हैं, जो कि हमारे जगत्से भिन्न, परे और पहलेसे

मौजूद था। ये सभी भव्य गुण या विशेषतायें अपना भौतिक इतिहास रखती हैं, और अपने विकासके मार्गको विश्वपर अंकित किये हुये हैं। उनका वह विकास-पथ बतलाता है कि उनसे करोड़ों वर्षों पहले अरबसे अधिक वर्षोंसे लगातार जीवन-रहित, मन-रहित भूत (भौतिकतत्व) मौजूद था। फिर "अल्पारम्भ क्षेमकरः" को मोटो बनाकर बहुत छोटेसे रूपमें जीवनका आरम्भ हुआ इत्यादि। हमारे सामने सभी बातें साफ हो जाती हैं, जब हम इसे देख और समझ लेते हैं कि भूत (भौतिकतत्त्व) कभी निश्चल नहीं रहता, गति उसका गुण (स्व-रूप = स्व-लक्षण) है। भूतकी उसकी परिभाषा है—भूत वह है जो गतिमें रहता है।

(३) *दृष्टान्त*—हेगेल्‌के ऊपर उद्धृत वाक्योंमें गुणात्मक परिवर्तन को संक्षेपमें—अतएव कुछ क्लिष्ट भाषामें—बतलाया गया है। हमने कुछ सरल करनेकी कोशिशकी है, यदि उसे और साफ करनेकी जरूरत है, तो फिर सुनिये। भूतमें विकास होता है, मिट्टीसे ऊख, गुड़ (या बिना गुड़के सीधे) चीनी, कंद तकका विकास हम खुद अपने हाथों करते हैं। प्रकृति इस विकासको क्रमशः और एकाएक दोनों तरहसे करती है। क्रमशः विकासके रूपमें तिकाते-तिकाते एक दम हथियार छोड़ती है; अथवा लम्बी या ऊँची कूदानवाले खिलाड़ीकी भाँति पहले दौड़ते हुए फिर एकदम मेंडक-कुदान करती है—नया गुण, नई वस्तु, नई घटना-अस्तित्वमें आती है।

१. पानीके जमनेका दृष्टान्त हेगेल्‌ने दिया है। बर्फ बनते वक्त पानी धीरे-धीरे गाढ़ा नहीं होता; बल्कि टेम्प्रेचर गिरते-गिरते जैसेही हिम-बिन्दु (३२° फार्नहाइट, ०° सेंटीग्रेड) पर पहुँचता है, वह एकाएक बर्फ हो जाता है उसका तरलपन लुप्त हो जाता है, उसकी प्रवाहिता लुप्त हो जाती है, वह शीशेके बराबर कड़ा और भारी लोरी और ट्रामको अपने ऊपरसे गुजारने लायक हो जाता है। आप स्वच्छ पतीलीमें कण-धूलिसे रहित शुद्ध जलको आग पर रखते हैं, वह गर्माता, फिर सनसनाता है। आप

"थर्मामीटर" से गर्मीकी वृद्धिकी गतिको देखते जाते हैं, ८०°, ६०° तक वह आपको ठण्डा लगता है, ६६°, ६७° में आपके शरीर इतना गर्म होनेसे न टण्ढा न गर्म, जितना ही तापमान ऊपर उठता जाता है, पानीकी गर्मी बढ़ती जाती है—जितनी गर्मी बढ़ती जाती है, तापमापक यंत्रका पारा उतना ही ऊपर चढ़ता जाता है। १५०° में आप हाथ रखना नहीं चाहते, २००° में और असह्य गर्मी। आपको आश्चर्य होगा पानी खौलता क्यों नहीं? आप इत्मीनान रखिये जिस तरह स्वच्छ करके आपने पानीको रखा है, उससे उसको खौलनेकी नौबत नहीं आयेगी। खौलनेके लिये कण और धूलि चाहिये, जिससे हवाके प्रवेश और बुल्बुला बनने की गुंजाइश हो। आपके जलमें कोई विजातीय तत्व नहीं हैं, इसलिये उसे भी उससे डर नहीं। यह देखिये टेम्प्रेचर २१०° डिग्री फार्नहाइट पर पहुँच गया। सजग हो जाइये। क्या कहा—अभी भी तो वैसा ही है। यह लो यह क्या हुआ? सारा पानी बिना खौले यकायक भाप हो गया, देखिये २१२° फार्नहाइट (१००° सेंटी ग्रेड) है।

इस तरह तापके परिमाणके परिवर्त्तन—परिमाणात्मक परिवर्त्तन—ने एक खास सीमापर पहुँचते ही गुणात्मक परिवर्त्तन कर दिया, तरलको टेम्प्रेचर ठोस या भाप (गेस) बना दिया।

२. तराजूका दृष्टान्त देखने, समझनेमें इससे भी सहल है। सेरका बटखरा रख एक बहुत अच्छे तराजूसे आप खसखस (पोस्तेके दाने) को तोलिये। पाव, दो पाव, तीन पाव, पंद्रह छटाँक, १५ छटाँक ४ तोला, १५ छटाँक ४ तोला ११ माशा, १५ छटाँक ४ तोला ११ माशा ७ रत्ती, १५ छ० ४ तो० ११ मा० ७ रत्ती, ७ चावल, १५ छ० ४ तो० ११ मा० ७ रत्ती, ७ चावल, ७ खसखस तक धीरे-धीरे रखते जाइये, तराजूकी डाँडी सीधी नहीं होगी, किन्तु जैसे ही आप आखिरी खसखस रखेंगे, वह बराबर हो जायेगी, और उसके आगे एक खसखस बढाते ही डांडी गिर जायेगी।

३. इसे भी छोड़िये, दूसरा दृष्टान्त लीजिये। चार पहलवान एक पत्थरको उठाना चाहते हैं। सारी ताकत लगाकर हार गये, वह नहीं उठा। उस वक्त एक लड़का उधरसे गुजरा। लड़केके यह पूछनेपर कि क्या मैं भी हाथ लगा दूँ, तीन पहलवान हँस पड़ते हैं, चौथेको जाने-अनजाने वैज्ञानिक भौतिकवादकी गंध लग गई है, वह कहता है—आने दीजिये। लड़का हाथ लगाता है, पत्थर उठ जाता है। बाकी तीन पहलवान लड़केको भगवान् या सिद्ध-पुरुष मानना चाहते हैं, वह उसके चरणोंमें दंडवत् गिरना ही चाहते हैं; किन्तु वह भौतिकवादी पहलवान कह उठता है—ऐसी कोई सिद्धाई नहीं है, आखिरी थोड़ासा भार बँच रहा था, जिसे उठानेके लिये हम चारोंकी शक्ति बँच नहीं रहती थी, इसलिये हम उठा नहीं पाते थे।

४. और उदाहरण लीजिये। स्टोवमें आप हवा भर रहे हैं। भरते जा रहे हैं, भरते जा रहे हैं, पूरी हवा भर दी गई है, स्टोवकी सूई खतरेकी लाल लाइनपर पहुँच गई है। होशियार हवा भरनेवाले गुणात्मक परिवर्तनवादी होनेके कारण आप समझ गये कि अब इसकी उदरपूर्ति हो गई। आपका साथी भगवान्दास कोरा भाग्यवादी, ब्रह्मवादी कर्मवादी, या मायावादी-शून्यवादी है। वह आपके जरासा हटते ही जलते स्टोवमें एक ही पिचकारी और कसता है, स्टोव फटनेका धड़ाका होता है। आप दौड़कर देखते हैं, घरमें आग लग रही है, भगवान्दास जलते कपड़ोंमें तड़फड़ा रहा है। खैर आप किसी तरह गीले कपड़ेकी मदद से भगवान्दासको बुझाकर बाहर निकालते हैं। अस्पतालमें जाकर वह बँच जाता है। चंगा होनेपर भगवान्दास कहता है—भाई! मैंने तो आधी फूंक भर भी हवा नहीं डाली होगी, भगवान्ने किसी पुरिदले कर्मका फल दिया। आप कहते हैं—इसी जन्मके कर्मका फल है, वह आधी फूंक हवाका परिमाण गुणात्मक परिवर्तन करनेकी सामर्थ्य रखता है। और यदि भगवान्दास—भाई! लगानेमें अनुप्रासका आनन्द तो

जरूर मिलता है ; किन्तु कितनी बार मैंने आपसे प्रार्थना की कि इस सनीचेर नामको बदलो—उसी गुणात्मक परिवर्तनको आपने भक्ष्य-साधक स्टोवका भक्षक रूप में परिवर्तन देखा।

(४) *मन*—मस्तिष्क और चिन्तन स्मरण आदिकी क्षमता-क्रिया—जिसे कि हम मन कहते हैं—का क्या संबंध है, इसके बारेमें हम अन्यत्र[1] काफी कह चुके हैं। इसलिए उन बातोंको यहाँ दुहरानेकी जरूरत नहीं, साथ ही "जीवन और भूत" पर लिखते वक्त हम अपनी स्थिति साफ कर आये हैं, कि जीवन भूतसे उत्पन्न है, किन्तु भूतही नहीं है। जीवन और मन एकही घटनाका दूसरा पहलू, अथवा साधारण जीवनका उच्चतर विकास है। पावलोफ़ ने इस सदीमें मस्तिष्ककी अंधेरी कोठरीमें घुसकर उसे देखनेका काम शुरू किया। पिछले चालीस वर्षोंमें उसके कितनेही भागोंको आलोकित जरूर किया जा सका है, किन्तु मस्तिष्ककी पीली मज्जाके करोड़ों सेलोंका रहस्य इतनी जल्दी नहीं खोला जा सकता। तो भी गवेषणाओंका जो कुछ फल मालूम हुआ है, उससे पता लगता है मनकी भिन्न-भिन्न क्रियामें मस्तिष्कके भिन्न-भिन्न भागोंके सेल-समुदायों से संबंध रखती हैं। एक अकेला सेल् अलग करके अनिश्चित कालतक अनुकूल आहारके साथ रखा जा सकता है, किन्तु उसवक्त वह अपनी सारी अद्भुत शक्ति खो बैठेगा, और एक साधारण एकसेलीय प्राणी—अमोय्वा—जैसा जीवन व्यतीत करेगा। इसलिए कहना चाहिए कि मस्तिष्क इन सेलोंका योग मात्र नहीं है, यहाँ परिमाण-संबंधी परिवर्तनसे गुणात्मक परिवर्तन होता है—और मस्तिष्कके करोड़ों सेल वह काम करते हैं, जिसे उन सेलोंकी वैयक्तिक क्षमता अलग-अलग नहीं कर सकती। नालंदाके दार्शनिक धर्मकीर्त्ति (६०० ई०)के शब्दोंमें[2]—"एकसे कोई

[1] "विश्वकी रूपरेखा"

[2] "न किंचिदेकमेकस्मात् सामग्र्याः सर्वसंभवः।" प्रमाणवार्त्तिक ३।५३६ "संहतौ हेतुता तेषाम्—वहीं २।२८।

एक वस्तु नहीं होती, (बहुतसे हेतुओंकी) सामग्रीसे सबकी उत्पत्ति होती है।" "उनकी संहति(संघात)में हेतुता है।"

मनके बारेमें विचार करनेके लिये कुछ भी आगे बढ़नेसे पहिले यह ख्याल हटा देना चाहिये कि मन एक खास तत्त्व है, जो फूलकी तरह अपने भीतरसे चिन्तन-स्मरण आदिकी सुगंधि निकालता रहता है। आधुनिक मस्तिष्क-विद्या-विशारद मनोविज्ञानवेत्ता मनको एक द्रव्य नहीं, बल्कि घटना-प्रवाह मानते हैं। जीवन और मनकी तुलना करके देखिये तो मालूम होगा, मन तभी तक रह सकता है, जब तक कि जीवन है। जीवनके न रहने पर मन (चिन्तन, स्मरण)का रहना बिलकुल असंभव है। खैर, इसे तो आप फजूल वक्त लेना कहेंगे। किन्तु यह ख्याल रखिये, कि परीक्षासे यह सिद्ध हो चुका है, कि मन शरीरके मरनेसे पहिले मर जाता है, इस तरह हमारे यहाँके नैयायिकों की व्याप्ति-"जहाँ जहाँ धूम वहाँ वहाँ आग"की तरह "जहाँ जहाँ मन वहाँ वहाँ जीवन" तो ठीक उतरती है; किन्तु जिस तरह "जहाँ-जहाँ आग वहाँ-वहाँ धूम"को गलत व्याप्ति (अ-व्याप्ति) कहेंगे, क्योंकि निर्धूम आग भी देखी जाती है; उसी तरह "जहाँ-जहाँ जीव वहाँ-वहाँ मन" (चिन्तन, स्मरण···) भी अव्याप्ति है; क्योंकि जीवन-चिह्न, शरीरकी उष्णता श्वास-प्रश्वासके बंद होनेके पहिले ही चिन्तन-स्मरणकी क्रियायें समाप्त हो जाती हैं—"मन" मर जाता है। यही नहीं कि मनके बाद भी शरीर जीता देखा जाता है, बल्कि बाज वक्त तो शरीरके मर जाने पर भी,—हिटलरके बंब द्वारा ध्वस्त ग्राममें एकाध बच गये दुधमुहे बच्चेकी भांति शरीरके कुछ सेलोंको जिन्दा रहते देखा जाता है, यद्यपि यह 'दुधमुँहा बच्चा' देर तकका मेहमान नहीं होता—मुर्दोंके नाखून और केश जो कभी-कभी बढ़े पाये जाते हैं, वह इसीके दृष्टान्त हैं। वस्तुतः जिसे हम शरीर कहते हैं, वह अरबों स्वतंत्र-सजीव सेलों (हाँ, यदि हमारे शरीरके किसी सेलको निकालकर खास रसमें रखें तो वह अनिश्चित काल तक एकसेलीय जन्तुकी तरह जीवित

रहेगा) का संघात है । ये सेल अलग-अलग उस शक्तिको नहीं पैदा कर सकते, जिसे हम मनका नाम देते हैं; किंतु उनकी संहतिमें हेतुता होती है और गुणात्मक परिवर्त्तनसे चिन्तन-स्मरण जैसी अद्भुत शक्ति (=मन) पैदा हो जाती है । पकज (कमल-फूल) पंकसे पैदा होता है, किन्तु वह पंक नहीं है ; मन भी पंकज (पंकसे पैदा हुआ) है, किंतु वह पंक नहीं । जैसे कमलके रूप-गुणको देखकर उसे स्वर्गसे टपका मानना पंकके साथ घोर अन्याय और अपनेको जड़-भरत साबित करना है, उसी तरह मनको आसमानसे टपकाना भी जड़-भरत बनना है ; अथवा "रोटी खाइये घी-शक्कर" की कहावतके अनुसार दूसरोंको धोखा देना है ।

एक बार फिर भूतके उदर-गह्वरमें हम आपको ले चलना चाहते हैं । एलेक्ट्रन्को प्रोटन् (हाइड्रोजनके नाभिकण) के गिर्द निरन्तर नृत्य करनेके बारेमें हम कह आये हैं । पिछले युद्धके बाद वैज्ञानिक कैसे इस प्रोटन्के जबर्दस्त किलेको भी तोड़नेमें समर्थ हुए, इसे दूसरी जगह[1] देखिये । यहाँ संक्षेपमें इतना ही समझिये कि वह प्रोटन् भी तोड़ने पर एलेक्ट्रन् और पोज़िट्रन् (पोज़िटिव=धन बिजली)से युक्त मिला, और अब वैज्ञानिकोंने एलेक्ट्रन्के नामको और वैज्ञानिक बनाते हुए उसे निगोट्रन (निगेटिव=ऋण बिजली कण) नाम दे दिया । एलेक्ट्रन्, निगोट्रन्, न्युट्रन् इन "प्रारम्भिक" इकाइयोंसे कैसे विश्वका विकास हुआ, इसके बारेमें भी हम यहाँ दूर तक नहीं जा सकते । ये भिन्न-भिन्न परिमाणमें मिलकर (परिमाणात्मक परिवर्त्तनसे) गुणात्मक परिवर्त्तन करते हुए हाइड्रोजन्, कार्बन् , रेडियम् जैसे परस्पर भिन्न स्वभाववाले ६२ रसायनिक मूलतत्त्वों (परमाणुओं)को विकसित करते हैं । ये परमाणु मिलकर अणुओं, अणु-गुच्छकों तथा भिन्न-भिन्न रसायन-योगों—जल (ओ १ हा २), नमक आदि—को बनाते हैं । खैर, इस योगके बनाने-

---

[1] "विश्वकी रूपरेखा"

में तापमानका खास महत्त्व है। तापमानके परिमाणके परिवर्तनसे कैसे जलमें गुणात्मक परिवर्तन हो वह ठोस बर्फ तथा गैसरूपी भापमें परिवर्तित हो जाता है, इसे हम बतला आये हैं। लेकिन इस तापको ढूँढ़नेके लिये मशाल लेकर बाहर भटकनेकी जरूरत नहीं। भूत (भौतिकतत्व) की गतिका ही नाम ताप है; और वह गति भूतमें स्वाभाविक है—गतिरहित भूत कहीं नहीं पाया जा सकता। एलेक्ट्रन् १,८२,६२८ मील प्रति सेकण्डकी चालसे चक्कर काटता है। रेडियम्से स्वतः सदा निकलनेवाले कणोंमें एक अल्फा-कण भी है, यह एलेक्ट्रन्की गतिके सामने छकड़ा है—सिर्फ १० से १५ हजार मील प्रतिसेकण्ड चलता है; किन्तु जानते हैं वह कितना गर्म होता है—५० अरब डिग्री सेंटीग्रेड (फॉर्नहाइट करनेमें और ज्यादा डिग्री होगा), उसके सामने सूर्यकी नाभिपरकी ४ करोड़ डिग्रीवाली गर्मी हिमालयकी सर्दी है। हाँ, तो गति=गर्मी, संघर्ष=समागम कराती हैं। परिमाणके परिवर्तनसे गुणमें परिवर्तन होता है। पृथिवी दो अरब वर्ष पहले बहुत संतप्त थी, ताप गिरनेके साथ गुणात्मक परिवर्त्तन शुरू हुए और अन्तमें जीवनकी आगमनीके लायक तापमान हुआ।—जीवन 0° सेंटीग्रेड (32° फार्नहाइट)से 100° (२१२ फार्नहाइट) तक जीवित रह सकता है। और 100° सेंटीग्रेड पर थोड़े समय तकके लिये जीवित रहनेवाले बेक्टीरिया और विरस् हैं, जिन्हें भूत और जीवकी बीचकी कड़ी माना जाता है। तापमान जीवन पर क्या प्रभाव रखता है, इसे मैं अपनी पुस्तक "विश्वकी रूपरेखा"से उद्धृत करता हूँ—करना ही चाहिये, नहीं तो आपलोग समझने लगेंगे कि अपनी पुस्तकका विज्ञापन देकर उसे बिकवाना तथा नफा कमाना चाहता है। नफेकी बात किसी हिन्दी-लेखकसे पूछिये और उद्धृत करनेका एक यह भी मतलब है: क्या जाने दुनियाके इस महातूफानमें "विश्वकी रूपरेखा" कहाँ रहे और "वैज्ञानिक भौतिकवाद" कहाँ ?—

प्रोफेसर हर्टविग्ने मेंढको पर तापमानका प्रयोग किया है। उन्होंने

एक ही मेंडकके एक ही दिन दिये अंडोंको चार भागोंमें बाँटा। चारों भागोंको क्रमशः ११·५°, १५°; २०° और २४° सेंटीग्रेड तापमानके पानीमें पाला। तीन दिनके बाद देखा गया कि जहाँ प्रथम भाग दानादार भी नहीं बन सका, वहाँ चतुर्थ भाग अंडा फोड़कर बाहर निकलनेवाला था, और बाकी दो भाग बीचकी अवस्थामें थे। इसका अर्थ यह हुआ कि ऊँचे तापमानमें जीवन-विकास शीघ्रतासे होता है।

"प्रोफेसर लोएब्ने ड्रोसोफिला मक्खी पर प्रयोग किया है। उससे पता लगा है, कि ३०° सेन्टी तापमानमें रखनेपर मक्खीको अंडा फोड़कर बाहर निकलनेसे मरने तकमें २१ दिन लगे; २०° सेन्टीग्रेडमें आयु ५४ दिनकी रही और १०° सें० में १७७ दिन अर्थात् आठ गुनीसे भी ज्यादा।

"तापमान जीवनकी खेती को शीघ्रतासे तैयार करता है, ऊपर ड्रोसोफिलाके प्रयोगमें हर १०° डिग्रीपर जीवनकी अवधि ढाई और तीनगुनी बढ़ी है। यह भी ख्याल रखना चाहिये कि, १०° सेंटीग्रेडसे ऊपर जीवनकी अवधि(१००° सें०)तक तापमानमें हर दस डिग्रीपर रसायनिक तत्त्वोंके प्रभाव भी दुगुने-तिगुने हो जाते हैं।

"तापमानका आयुपर जिस तरहका प्रभाव हम मक्खियों, मेंडकों तथा दूसरे निम्न प्राणियोंपर पाते हैं, वही चिड़ियों, स्तनधारियों, मनुष्योंपर नहीं पाया जाता। कारण उनके शरीरकी बनावट ऐसी है, कि उनके शरीरका तापमान एक खास परिमाणसे ऊपर नहीं जाने पाता। गर्मियोंमें एककी जगह तीन-तीन गिलास पानी जो हम पीते हैं, वह टेम्प्रेचरको ९६°,९७° फार्नहाइट तक रोक रखनेमें खर्च होता है।"

तापमानका जीवनपर प्रभाव कैसा होता है, यह तो समझ गये। पृथिवी पहिले अत्यंत उष्ण थी, फिर गर्मी कम होते-होते जब ऐसे तापमानमें आई, जहाँ कि जीवनका गुज़र हो सकता है, तो जीवन उत्पन्न हुआ, और पृथिवीके तत्त्वोंसे ही उत्पन्न हुआ। कैसे हुआ, इसके लिये हम

मजबूर हैं, "विश्वकी रूपरेखा"को देखनेकी सलाह देनेके लिये। अ-जीव रसायनिक रसयोगसे गुणात्मक परिवर्तनके साथ एक नया तत्त्व "विरस्"[1] या बेक्टीरिया पैदा हुआ। फिर क्रमशः एकसेल्वाला प्राणी अस्तित्वमें आया। फिर एकसेलीय अमोयूबा, और अनेक-सेलीय क्षुद्र कीटसे अरबों सेलोंवाले मनुष्य तक। आज भी हमारे शरीरके किसी सेल्को शरीरसे बाहर जिंदा रखा जा सकता है। सेल्के जिन्दा रखनेकी एक प्रक्रिया वह है, जिसे सन्तान-प्रसव कहते हैं; जिसमें पति, पत्नीके एक-एक सजीव सेल् आपसमें मिलते हैं, और उदरमें तथा बाहर आहार प्राप्त कर पुत्र या पुत्रीके रूपमें साकार हो हमारे प्रेम, तथा योग्यताके अधिकारी बनते हैं। दूसरा तरीका डाक्टर केरेल (अमेरिका) जैसे वैज्ञानिक इस्तेमाल कर रहे हैं—डाक्टर केरेलने मुर्गीके हृदयके एक सेल्को एक खास रसमें २० सालसे जीवित रखा है, उसकी जिन्दगी एक सेल्-वाले अमोयूबा जैसी है।—स्मरण रखना चाहिये, मुर्गीकी औसत आयु सिर्फ पाँच सालकी होती है।

इसी गुणात्मक प्रक्रियासे मानव तकके विकासके समझनेके लिये हमें प्राणि-शास्त्रियोंके प्रयोगसिद्ध एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त *जाति-परिवर्तन*[2]को थोड़ासा समझ लेना चाहिये।

(५) *जाति-परिवर्तन*—हमने अन्यत्र[3] इसके बारेमें लिखा है—"आनुवंशिकताका प्राणीके निर्माणमें" बहुत हाथ है, तो भी उसकी दीवारमें कुछ छिद्र हैं, जिसके कारण नई जातियों या श्रेणियोंका प्रादुर्भाव होता रहता है। व्यक्तिमें नये रूप-गुणका प्रादुर्भाव दो तरहसे होता है—एक अभ्यास या कृत्रिम रीतिसे—जैसे अशिक्षित व्यक्ति अध्ययन और अध्यवसायसे शिक्षित बन जाता है, अथवा दुर्घटनासे आदमी लंगड़ा-लूला हो जाता है। ये परिवर्तन ऊपरी तथा एक शरीर (पीढ़ी)

[1] Virus [2] Mutation

[3] ज्यादा जाननेके लिये देखिये "विश्वकी रूपरेखा"

तक ही सीमित रहते हैं। डाक्टरका लड़का सिर्फ इसलिये डाक्टर नहीं हो सकता, कि वह डाक्टरका लड़का है। इसका मतलब यह है कि अभ्यास और अध्यवसाय द्वारा प्राप्त गुण आनुवंशिक नहीं बनते। एक दूसरी तरहका परिवर्तन है, जो कि स्थायी होता है, इसे *जाति-परिवर्तन* कहते हैं। यह परिवर्तन ऊपरी नहीं, प्राणिके अन्तस्तम *जनक-बीज* (जेनस्[1]) में होता है, जिससे नवीन वस्तुका प्रादुर्भाव होता है। नवीनताका प्रदुर्भाव ही *विकास*का आधार है।

"मेंडल[2] की जाति-परिवर्तनसंबंधी गवेषणायें डार्विनको अज्ञात थीं, इसलिये विकासका अर्थ वह अविच्छिन्न शान्त प्रवाह—सर्पगति—लेता था। *विकास*, वस्तुतः, अविच्छिन्न नहीं है, बल्कि विच्छिन्न कुदान है।"

जनक-बीज या जेनस् ही एक पीढ़ीके आनुवंशिक गुणोंको दूसरी पीढ़ीमें पहुँचाते हैं। इन्हीं जनक-बीजोंमें परिवर्तन जब और जितने परिमाणमें होता है, तब और उसी मात्रामें जातिमें परिवर्तन होता है। जनक-बीज और जाति-परिवर्तनके विषयमें हम दूसरी जगह[3] लिख चुके हैं। मनुष्यका शरीर अरबों सेलोंका एक परिवार है। हर सेलमें एक नाभिकण होता है। हर "नाभिकण"में रस्सीके टुकड़ों जैसी कोई चीज (क्रोमोसोम) होती— (सेलकी भाँति इसका रूप भी बदलता रहता है)। इसकी संख्या मनुष्यमें ४८ है (खून या मांसकी परीक्षा कर इन क्रोमोसोमोंकी गिनतीसे वह किस प्राणीका मांस या खून है इसे बतलाया जा सकता है।) क्रोमोसोम्के धागेमें कुछ हजार छोटे-छोटे मनके पिरोये रहते हैं, जिन्हें कि जनक-बीज (जेनस्) कहते हैं। अमेरिकन वैज्ञानिक मोर्गनने फलोंकी मक्खी ड्रोसोफ़िलाके प्रयोगसे जनक-बीजके रहस्यको खोज निकालनेमें बहुत सफलता पाई है। महीनेमें दो और सालमें २४ पीढ़ी तैयार हो जानेसे ड्रोसोफ़िलाके

---

[1] Genus [2] आस्ट्रियाका एक प्राणि-शास्त्री [3] "विश्वकी रूपरेखा"

पीढ़ीसे पीढ़ीमें *जनक*-परिवर्तनका अध्ययन बहुत सुगम है। मोर्गनने कितनी ही लाख मक्खियोंकी आनुवंशिकताका लेखा तैयार किया है। जनक-परिवर्तनसे जो आनुवंशिकता-परिवर्तन होता है, इसे ही *जाति-परिवर्तन* कहते हैं। मोर्गनने अपनी इन मक्खियोंमें चार सौके करीब जाति-परिवर्तन देखे ; इन चार सौ जाति-परिवर्तनोंमेंसे बहुतोंका अध्ययन करनेसे मालूम हुआ है कि वहाँ *जनक-बीजों* (जनकों)के चार समूह हैं—अर्थात् समूहोंकी उतनी ही संख्या है, जितने कि ड्रोसोफ़िलाके नाभिकणमें क्रोमोसोम् होते हैं। एक-एक समूहमें *जनक-बीजों*की संख्या क्रोमोसोमकी लंबाईके अनुसार होती है, और उसे अणुवीक्षणसे हम देख सकते हैं।

ड्रोसोफ़िलामें हर लाख पर २८ से ६१ तक जाति-परिवर्तनवाले व्यक्ति पाये गये हैं। लेखा लगानेसे पता लगता है कि एक हजार वर्षके समयमें ड्रोसोफ़िलाके सभी *जनक-बीज* बदल जाते हैं। १५ दिनमें नई पीढ़ी तैयार करनेवाली, तथा सन्तान-प्रसवमें लासानी ड्रोसोफ़िला मक्खीमें *जाति-परिवर्तन*की गति बहुत तीव्र है। मुलरने एक प्रयोग द्वारा जाति-परिवर्तनकी प्राकृतिक गतिको १५० गुना तक कर दिया, और इस प्रकार एक लाखपर ४२०० से ६१५० जाति-परिवर्तन किये जा सके—अर्थात् ऐसा होनेपर छै वर्षमें सारी मक्खियोंके जनक-बीज बदल जायेंगे। ड्रोसोफ़िलाकी सारी जातिके जाति-परिवर्तनमें कितना समय लगता है, हमें यहाँ उससे मतलब नहीं है ; मतलब इससे है कि *जाति-परिवर्तन* होता है, और सिर्फ सर्प-गतिसे नहीं ; बल्कि मेंडक-कुदानकी तरह यकायक होता है।

(६) *मनुष्य और उसके समाजमें गुणात्मक-परिवर्तन*—समाजमें गुणात्मक-परिवर्तन होता है, इसीको हम सामाजिक-क्रान्ति कहते हैं। यह जबसे पृथिवीपर मनुष्य आया तबसे हो रहा है, यद्यपि मस्तिष्कका मालिक मनुष्य प्रकृतिके काममें अक्सर बाधा डालना चाहता है ; किंतु

वह होता ही रहता है। हमने इस परिवर्तनको अपने "मानव-समाज"में सविस्तार दिया है। इस तरहके परिवर्तनको और नजदीकसे देखना चाहते हों, तो अपने सामने मौजूद किसी घरकी तीन पीढ़ीको गौरसे देखिये। मेरा अपना उदाहरण लीजिये—

१. नाना (रामशरण पाठक, पल्टनके सिपाही)—"हमारी पल्टनका बलिया जिलेवाला राजपूत डाक्टर क्रिस्तान था, उसकी स्त्रीने उसे छोड़ दिया। क्यों? वह अंग्रेजोंके साथ चाय पीता था।"

२. पिता (गोवर्धन पाँडे[1])—पूजा-पाठके बहुत पाबंद; किन्तु अपने हलवाहे चिनगी चमारकी लाशको लोगोंके बुरा माननेपर भी ४० मील दूर गंगा तटपर फूंकनेके लिये ले गये, और

३. बंदा (राहुल सांकृत्यायन)—आप लोगोंके सामने नंगा खड़ा है। न हिन्दुओंके भक्ष्याभक्ष्यको मानता, न धर्म-अधर्म, न जात-पाँतको। बेचारा बलियावाला डाक्टर तो अंग्रेजोंके साथ चाय पीता था, यहाँ अंग्रेजोंको भी पी जानेके लिये तैयार हैं। और? रामशरण पाठक और गोवर्धन पाँडेके एक-एक सेलकी परंपराको आगे ले जानेके लिये (यदि वह इस सर्वसंहारी युद्धसे बच रहा तो) लोलाको उसने सहयोगिनी बनाया, जो कि पाठकजी, पाँडेजी दोनोंके विचारसे सोलहो आना "क्रिस्तान" म्लेच्छ रूसी स्त्री है।

*मानव समाज*में गुणात्मक-परिवर्तनके लिये उसके जंगली, बर्बर, सभ्य (सभ्यमें सामन्तवाद, पूँजीवाद, समाजवाद) अवस्थाओंको देखनेसे मालूम होगा कि इन अवस्थाओंमें गुजरनेपर किस तरह रूढ़ियाँ, आर्थिक, धार्मिक ढाँचे बदलते गये हैं।

---

[1] दादाको न देखने तथा समझ होनेसे पहिले माके मर जानेसे उनका दृष्टान्त नहीं दे सका।

३. प्रतिषेधका प्रतिषेध

द्वन्द्ववादके ध्वंस-रचना कार्यकी तीसरी सीढ़ी *प्रतिषेधका प्रतिषेध* है। विनष्ट-विलीन वस्तु (घटना-प्रवाह)के उत्तराधिकारी या स्थाना-पन्नको प्रतिषेध, निषेध, कहते हैं। यद्यपि प्रतिषेधका नाम कर्णकटु-सा प्रतीत होता है ; किन्तु साथ ही उसका महत्त्व बहुत बड़ा है; यह इसीसे पता लगेगा कि विश्वकी हर एक प्रगति, हरएक विकासमें इसका होना जरूरी है। एक पीढ़ी पहिली पीढ़ीका प्रतिषेध करती है, फिर इस नयी पीढ़ी (प्रतिषेध) का प्रतिषेध अगली करती है। वैज्ञानिक भौतिकवादकी ही ओर देखिये—

पुराण भौतिकवाद
↓
यांत्रिक भौतिकवाद
↓
वैज्ञानिक भौतिकवाद

प्राचीन भौतिकवादका प्रतिषेध सत्रहवीं-अठारहवीं सदीके यांत्रिक भौतिकवादने किया, और उसका प्रतिषेध वैज्ञानिक भौतिकवादने ; गोया वैज्ञानिक भौतिकवाद प्रतिषेधका प्रतिषेध है।

और,

अलग-अलग वैयक्तिक सम्पत्ति→
पूंजीवादी वैयक्तिक सम्पत्ति→
समाजवादी सामूहिक सम्पत्ति

पूँजीवादने अलग-अलग छोटे-छोटे व्यवसायियों, शिल्पियोंको हटाकर उत्पादनके साधनों तथा व्यवसायको पूँजीवादी संगठनके हाथ-

में दे दिया। समाजवाद उसका प्रतिषेध कर प्रतिषेधका प्रतिषेध बना। मार्क्सने इस नियमके कामको दिखलाते हुए कहा है[1]—

"एक पूँजीपति कई [पूँजीपतियों]को मारता है। चंद (पूँजीपतियों) द्वारा बहुतसे पूँजीपतियोंके इस प्रकार हो रहे हड़पन या केन्द्रीकरणके साथ-साथ वह लगातार बढ़ते हुए पैमानेपर आगे बढ़ता जाता है—श्रमका सहयोगी (सामूहिक) तौरपर प्रयोग, जान-बूझकर साइंसकी यंत्र-चातुरीका विनियोग, भूमिका ठीक तौरसे कर्षण, श्रमके साधनोंका सिर्फ साझेमें (सम्मिलित) तौरपर ही इस्तेमाल होने लायक बन जाना, सम्मिलित समाजीकृत श्रमके उत्पादन-साधनोंके उपयोग द्वारा सभी उत्पादन-साधनोंमें मित-व्ययिताका इस्तेमाल !... उत्पादन-साधनोंका केन्द्रीकरण [चंद हाथोंमें एकत्रित होना] तथा श्रमका समाजीकरण [वैयक्तिक नहीं व्यवस्थित समाजके रूपमें उपयोग] आखिरमें एक ऐसे स्थानपर पहुँच जाता है, जहाँपर वह अपनी पूँजीवादी खोलके प्रतिकूल हो जाता है। यह खोल फट जाता है। पूँजीवादी वैयक्तिक संपत्तिका (मरण-) घंटा बज जाता है और हड़पक हड़पित होजाते हैं।"

सामन्तवादी युगकी वैयक्तिक संपतिको पूँजीवादने हड़पा, उसका प्रतिषेध किया, उसने पूँजी—लाभ—को वैयक्तिक रख श्रमको समाजबद्ध किया। एक ही जगह दो विरोधी व्यवस्थाओंका समागम हुआ। दोनोंमें टक्कर लगी। गुणात्मक परिवर्तनसे एक नया समाजवादी समाज--शोषक-शोषित-रहित समाज—पैदा हुआ, जिसने पहलेके प्रतिषेध (पूँजीवाद) का प्रतिषेध कर दिया।

विरोधि-समागम होनेपर ही संघर्षद्वारा गुणात्मक परिवर्तन होता है, जिसका ही परिणाम प्रतिषेधका प्रतिषेध होता है। यह विरोधि-समागममें जिस अंश, जिस-जिस रूपमें होगा, उसीके अनुसार वह अपनी असली क्रिया-

[1] Capital

ओंको करानेमें सफल होगा। प्रश्न हो सकता है—जिस तरह पूँजीवादको समाजवादने प्रतिषेध किया, क्या इस प्रतिषेध (समाजवाद)का भी कोई प्रतिषेध नहीं होगा, क्या यहाँ प्रतिषेध-प्रतिपेधका नियम लागू नहीं है ?—लेकिन यह प्रश्न गलतीसे किया गया है। प्रतिपेध-प्रतिपेधके सवालको हम बीचसे नहीं उठा सकते। हमें उसे विरोधि-समागमसे पहले शुरू करना होगा। प्रश्न होगा—समाजवादी—या उससे आगेके साम्य-वादी-समाजमें क्या विरोधि-समागम होगा ? निश्चय ही (शोपक-शोषित-) वर्गहीन साम्यवादी समाजमें वर्ग-संघर्ष नहीं होगा, इसलिए वहाँ इस तरहके विरोधि-समागमकी संभावना नहीं। वहाँ विरोधि-समागम उस वक्तकी साइंस-यंत्र-चातुरी तथा प्राकृतिक शक्ति और क्षमताके साथ होगा, जिसका परिणाम मानवकी क्षमताका अधिक और अधिक विकास होगा। किस तरह, किस दिशामें ?—यह प्रश्न गुणात्मक-परिवर्तनवादीसे नहीं किया जा सकता, यदि आपका वैसा विश्वास है, तो इसे किसी भृगुसंहिता वालेके पास ले जाकर अपनी अकलका दिवाला बुलवाइये।

"प्रतिपेधका प्रतिपेध" कठघोड़ेके नाचकी तरह उसी चक्कर पर नहीं बल्कि चक्करदार सीढ़ीकी भाँति ऊपर और ऊपर जाते पथ पर होता है, यह बतलाते हुए मार्क्सने बतलाया[1]—

"पहिली [पूँजीवादकी सफलताकी] अवस्थामें थोड़से (परस्वत्व) अपहरण करनेवालों द्वारा जनताकी एक अत्यन्त भारी संख्याको वंचित करना [हड़पना] था ; दूसरी [समाजवादकी सफलताकी अवस्था] में...*जनताकी एक अत्यन्त भारी संख्या द्वारा* चंद-अपहरण करने-वालोंको वंचित करना है।"

प्रतिपेध-प्रतिपेधके नियमको दर्शनके इतिहासमें देखें तो इसके बहुतसे नमूने मिलेंगे। याज्ञवल्क्य (७०० ई० पू०) से असंग (४०० ई० पू०) के ग्यारह सौ सालोंमें प्रतिपेध-प्रतिपेध निम्न तौरसे चल रहा था—

---

[1]. Capital Vol. I p. 289

वैदिक कर्मकांड→याज्ञवल्क्य→कपिल→बुद्ध→अफलातूँ→असंग और आगे—

असंग | →दिग्नाग→धर्मकीर्ति
| →गौड़पाद→शंकराचार्य

और भारतीय न्यायशास्त्रमें प्रतिषेधके प्रतिषेध—

नागार्जुन← (१७५ ई०)
→अक्षपाद (२५० ई०)
....←
→वात्सायन (४०० ई०)
दिग्नाग← (४२५ ई०)
→उद्योतकर (५०० ई०)
धर्मकीर्ति← (६०० ई०)
→...
ज्ञानश्री← (७२५ ई०)
वाचस्पति (८४१ ई०)
उदयन (९८४ ई०)
(वादरहस्यकार) (११०० ई०)
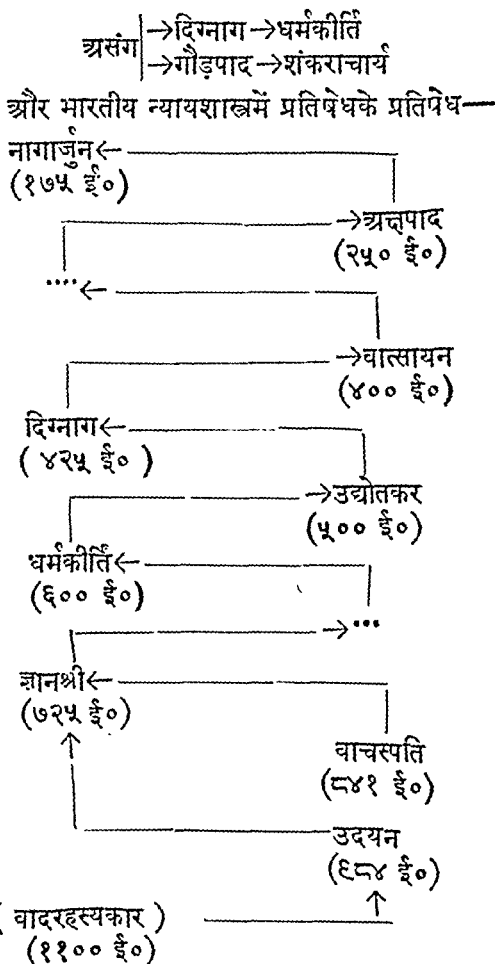
हाँ, यहाँ प्रतिषेध-प्रतिषेधका मतलब यह न समझिये कि एकने दूसरेके सारे दर्शनका प्रतिषेध कर दिया, प्रतिषेध उसी अंशमें हुआ, जितनेमें विरोधि-समागम हुआ था।

द्वितीय अध्याय

कार्य-कारण (हेतुवाद)

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद दर्शन नहीं, बल्कि साइंसका अधिनायकत्व है, इसीलिये वह जो भी शक्ति रखता है, वह उसे साइंससे मिली है—यह हम पहले कह चुके। किन्तु, प्रचलित दर्शनवालोंके मुकाबिलेमें हम इसे दर्शन—और उनसे कहीं बढ़-चढ़कर दर्शन—भी कह सकते हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अपनेको प्रचलित तर्कशास्त्रकी कोटिमें रखनेके लिये तैयार नहीं है, क्योंकि वह दिमागी कसरतको नहीं बल्कि प्रयोग (भौतिक जगत्में प्राप्त वस्तु स्थिति)को परम प्रमाण मानता है, वही उसके लिये सत्यकी सर्वश्रेष्ठ कसौटी है। तो भी जिस तरह प्रचलित दर्शनसे लोहा लेनेके लिये उसे दर्शन बनकर दर्शनकी भाषामें जवाब देना पड़ता है, उसी तरह तर्कके शस्त्रको कुंठित करनेके लिये उसे तर्कके जनक *प्रयोग* जैसे महाशस्त्रवाले तर्कको भी इस्तेमाल करना पड़ता है। ऐसी अवस्थामें वैज्ञानिक भौतिकवादको कार्यकारण (हेतु)-वादके बारेमें अपनी स्थितिको साफ कर देना जरूरी है।

क. कार्य-कारण या हेतु

१. व्याख्या

कार्य-कारण नियम क्या है? इसे जाननेके लिये पहले कारणको जानना जरूरी है। कारणका जो लक्षण अभी हम दे रहे हैं, उसके बारेमें यह जान लेना जरूरी है : प्रकृतिको यह बिलकुल मंजूर नहीं है कि उसकी वास्तविकताको परमार्थ तौर पर चित्रित या भाषित किया जावे।

—वस्तुतः दार्शनिकों और तार्किकोंके अर्थमें *परमार्थ* नामका जो शब्द है, वह प्रकृतिके कोशमें मौजूद ही नहीं है। वास्तविकताके लिये प्रयोगकी कसौटी हाथमें ले कैसे आइन्स्टाइन[1] *सापेक्षतावाद* पर पहुँचे, इसे आपने पढ़ा होगा; उससे हमारी बात समझनेमें न दिक्कत होगी, न उसमें रहस्यवादी अर्थ खोजनेकी आप कोशिश करेंगे।

अच्छा तो *कारण* क्या है? यहाँ फिर स्मरण रखना होगा कि जब हम कहते हैं—कुछ कारण हैं, जो अमुक परिवर्तनको ला रहे हैं; तो परिवर्तन लानेमें वहाँ हम *देश* और *काल*को नहीं गिनते, गोया देश-काल किसी चीजके कारण नहीं हैं। आप प्रश्न कर उठेंगे—क्या देश-कालका अस्तित्व ही नहीं है? क्या आप भी वेदान्ती हो गये? नहीं, इन दोनों बातोंकी शंका आपके मनमें नहीं होनी चाहिये। हम देश-कालसे इन्कार नहीं करते, हम इन्कार करते हैं, उनके दार्शनिक अर्थमें *परमार्थ* होनेसे। देश-काल वस्तुतः भूत(भौतिकतत्त्व)के अस्तित्वके ही—उससे कभी अलग नहीं रहनेवाले—पहलू हैं। जैसे गिनती प्रकृतिके यहाँ उस तरह नहीं मिलती, जैसी कि हमारी गणितकी पुस्तकोंमें; उसी तरह देश-काल भी द्वंद्वात्मक प्रकृति (भूत, गति)से अलग कोई हस्ती नहीं रखते। कारणका काम है क्रिया करना। क्रिया बिना अपने या दूसरेमें कोई परिवर्तन किये नहीं हो सकती। दार्शनिकोंका देश-काल–आकाश, आत्मा (ईश्वरको भी ले लीजिये)—कोई काम नहीं करते, वह निष्क्रियतत्त्व हैं। निष्क्रिय होने पर भी यह निराकार पदार्थ हैं—यह संध्याभाषा है, जिसका समझना मर्त्योंकी शक्तिसे बाहर है; शायद इसे भाँगका गोला चढ़ाये भोला बाबा या उनका नाँदिया ही समझ पाये।

फिर यह भी स्मरण रखना है कि कारण भी कोई *परमार्थ*के अर्थमें नहीं होता—एक बार कारण है तो वह सदा कारण रहेगा, ऐसा प्रकृति-

---

[1] देखिये "विश्वकी रूपरेखा"

में नहीं मिलता। जिस तरह हरएक पिता किसीका पुत्र भी है, उसी तरह हरएक कारण किसी (नहीं किन्ही कहना अच्छा है, क्योंकि प्रकृति बहु-पति-विवाह—यूथ-विवाह—को बहुत पसंद करती है ! एक कारण नहीं कारण-सामग्री [1]—कारण-समुदाय—कार्यको अस्तित्वमें लानेमें समर्थ होते हैं) किन्हीं पहिले कारण-समुदायोंकी प्रसूति—कार्य होता है। यह ख्यालमें रखते हुए आप कारणकी परिभाषा कर सकते हैं—कारण वह वस्तु (घटना-प्रवाह) है, जो कि नियमपूर्वक किसी परिवर्तनके तुरन्त पूर्व मौजूद (कार्य-नियत-पूर्व-वृत्ति) था, और यदि उन्हीं परिस्थितोंमें वैसा कारण(-समुदाय) फिर मौजूद हुआ, तो उसी तरहके कार्य (घटना-प्रवाह) अस्तित्वमें आयेंगे।

तब कार्य-करण नियम होगा—यदि एक खास घटना-प्रवाह (आसानीके लिये वस्तु कह लीजिये) वस्तुतः मौजूद है, तो उससे पहिले एक दूसरा अनुकूल घटना-प्रवाह वहाँ अवश्य मौजूद रहा होगा। अवश्य मौजूदगी कारण होनेके लिये जरूरी है।

१. नियतिवाद

कार्य-कारण-नियममें नियम—नियति = अवश्यंभाविता—दुबकके बैठा हुआ है : जिससे नियतिवादका प्रसव बिल्कुल आसानीसे हो सकता है। प्रकृतिमें कार्य-कारण-नियम हर जगह बराबर दिखाई पड़ता है। किन्तु इस तरहके कड़े नियमको जब हम एक मनुष्य या अनेक मनुष्यों-पर लागू करना चाहते हैं, तो भारी दिक्कत ही का सामना नहीं करना पड़ता; बल्कि कितनी ही बार वह व्यक्ति या व्यक्ति-समूह उसे लागू होने नहीं देता; यही वजह है, जो कि हम प्रकृतिके बारेमें जितने इतमीनानके साथ भविष्य कथन कर सकते हैं, मनुष्यके बारेमें उतना

[1] "हेतवो हेतुता तेषाम्"—धर्मकीर्ति (प्रमाणवार्त्तिक २।२८)

नहीं कर सकते। आप इससे खुश न होइये—अच्छा हुआ जो मनुष्यकी (इच्छा या कर्ममें) स्वतंत्रता सुरक्षित रह गई, और वह नियतिके पाशमें बंधा "मदारी"का भालू नहीं बन गया। नियतिवाद और स्वातंत्र्यवादकी समस्या काफी गहन है—खासकर जबकि प्रकृति (प्रयोग)का सहारा छोड़ लोग इससे आकाशके सितारे तोड़ने लगते हैं।

हाँ, तो प्रश्न है—जब प्रकृतिमें सर्वत्र कार्य-कारण-नियम व्यापा हुआ है (इसे माने विना कोई साइंस-संबंधी गवेषणा संभव नहीं), तो मनुष्यको "स्वतंत्रः कर्त्ता" कैसे कह सकते हैं? कार्य-कारण-नियम एक जबर्दस्त नियति (भाग्य) है, जिसके द्वारा विश्वकी प्रत्येक वस्तु (घटना-प्रवाह) नियत है; तभी तो हम प्रयोगशाला, या वेधशालामें कार्यसे कारण तक पहुँचनेका प्रयत्न करते हैं; अथवा कारणसे कार्यके संभव होनेका ख्याल कर उसके पानेके लिये परिश्रम करते हैं। फिर तो वेचारा मनुष्य हाथ-पैरसे बँधा है, उसकी तो साँस भी इसी कार्य-कारण-नियमके अधीन है। इसका अर्थ दूसरे शब्दोंमें यह हुआ कि हमारी इच्छा हमारे अन्तस्तम विचार सभी नियति—भाग्यके हाथमें हैं। फिर तो यह भी मानना पड़ेगा कि विश्वके भीतर एक खास प्रयोजन छिपा मालूम होता है, और उसका संचालक 'ईश्वर' यह सब कुछ एक खास प्रयोजनसे करता है। किन्तु अभी इतनी दूर तक जानेकी जरूरत नहीं; क्योंकि नियतिवाद दुधारी तलवार है, यदि वह मानवको हाथ-पैर बाँध-कर छोड़ देगा, तो ईश्वरकी दशा भी उससे वेहतर न होगी, वह भी नियतिके हाथकी कठपुतली मात्र रह जायेगा।

देखना है—क्या कार्य-कारण-नियम सचमुच ही इतना प्रबल है। यदि ऐसा होता तो कार्य-कारणको एक तलपर ठीक चक्कर काटते देखते, और कारणके वाद कार्य, उस कार्यके कारण वन जानेपर भी वही कार्य…फिर वही कारण… इस तरह एक-सी आवृत्ति चलती रहती है। किन्तु इतिहासमें हम कभी इस तरहकी पूर्ण आवृत्ति नहीं देखते; यद्यपि

ऐसा साबित करनेके लिये पूरी कोशिश की जाती है। अंग्रेजी कहावत है—"सूर्य(आकाश)के नीचे कोई नई चीज नहीं"; जो कि सोलहो आने गलत है, और उसकी जगह कहना चाहिये—"आकाशके नीचे कोई चीज पुरानी नहीं है।" हर एक चीज हर क्षण नई है, इसे हम पहले बतला आये हैं। अंग्रेजीकी कहावतकी भाँति ही भारतकी भी पुरानी गलत कहावत है—"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्"[1], और इसके ऊपर जो तूफाने-बदतमीज़ी बाँधा गया, वह तो "पत्ता भी हिलता नहीं (बिना उसकी मर्जीके)" जैसी मस्ती हजारों कहावतोंमें देखा जाता है। इसका निदर्शन राम-रावणसे संबंध रखनेवाली हनूमानकी कहानीसे है।

हिन्दुओंके परम देवता वानर हनूमान् , जो-है-सो रामजीकी कृपासे, जगत्-माता जनकनन्दिनी सीताजीके पास जब जा रहे थे, तो उनके मनमें संदेह होता भया—यदि कहीं घट-घटकी बात जाननहारी जनक-दुलारी सीता महारानीके मनमें शंका उत्पन्न होती भई कि कौन जाने यह कलमुंहा वानर त्रैलोक्यके विधाता दाशरथी रामके पाससे आया है या और कहींसे, तो कैसे करके विश्वास दिला सकूँगा। निदान, यह सोच श्री हनूमानूजी महाराज रामजीसे बोलते भये—"हे त्रिलोकीके त्राता! हमारे मनमें यह सन्देह होती भई है, सो कृपा करिके हमको कोई चीन्हा दीजिये।"

रामजीने रामनाम-अंकित मुद्रिकाको अपनी अंगुलीसे निकालकर श्री हनूमानूजीको प्रदान कर दिया। बेचारे हनूमानजी रास्तेमें कालनेमि-से कम न परेशान करनेवाले एक बूढ़ेके फेरमें पड़ गये! उसने धीरेसे हनूमानकी अंगूठी उड़ाई और उसे अपने कमंडलुमें डाल दीनी। हनूमान-जीकी अकल गुम हो गई। कौन मुख लेके रामके पास लौटें, और कौन

[1] "सूर्य और चंद्रमाको विधाताने पूर्वकी तरह ही बनाया"—ऋग्वेद

मुख लेके सीतामाताके पास जायें—मुंहपर भारी कालिख-सी पुतन लगी। बूढ़ेको दया आई, उसने कमंडलू सामने रखकर कहा—इसके भीतरसे अपनी अंगूठी निकाल ले। हनूमान्‌ने झाँककर देखा, तो वहाँ अंगूठियों-का ठिकाना न था, और सभी एक ही तरहकी, मानो बूढ़ेने अंगूठीकी एक टकसार ही खोल रखी हुती। बूढ़ेने थोड़ी ही देर बाद नगर जला स्त्री-बच्चोंके करुण-क्रंदन करानेमें कलियुगके हिट्लरको भी मात करने-वाले वानर-पुंगवकी पीठपर हाथ फेरते हुए कहा—किस रामकी अंगूठी चाहता है रे!"

"दशरथके पुत्र रामकी।"

"ये सभी दशरथके पुत्र थे, जिनकी अंगूठियाँ यहाँ पड़ी हैं।"

"पुराना नाम साकेत और हाल नाम अयोध्याके राजाकी—।"

"ये सभी अयोध्याके राजा थे।"

"रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीता राम" की। बेचारे हनूमान्‌ने समझा—इस बूढ़ेने भी गीताप्रेस-कल्याण बंक-लिमिटेडमें बाबा राघवदासकी सिफारिशपर कुछ रामनामकी रकम डिपाजिट की होगी, और अब मेरा काम बन जायगा। लेकिन बूढ़ेने हनूमान्‌की पीठसे हाथ हटा सिरको नीचा रखे कहा—

"यह सभी 'रघुपति•••सीताराम'की अंगूठियाँ हैं।"

"अरे जिसे कलियुगके नारद विष्णु दिगंबर तंबूरेपर गानेवाले हैं, उस 'रघुपति•••सीताराम'की।"

"कह दिया यह सभी वही अंगूठियाँ हैं, जिन्हें विष्णु दिगंबरके 'रघुपति •••सीताराम' और सेवाग्राममें गाये जानेवाले 'रघुपति•••सीताराम' नामक व्यक्तियोंने एकबार पहिना था। तू इस चक्करमें मत पड़, तेरे जैसे हनूमानों तथा तेरे मालिक जैसे रामोंको एक नहीं छसौ-छप्पन गंडे मैंने देखे हैं। मैंने ये केश धूपमें नहीं सुखाये हैं। इनमेंसे एक अंगूठी ले, और अपना रास्ता नाप।"

बूढ़ेकी बात सुनकर हनूमान्‌के उत्साहपर हजार घड़ा पानी पड़ गया। वहाँ अशोक वनमें नजरबंद सीताके अंकमें अंगूठी फेंकी, गई और जगन्माताने जो रोना-धोना शुरू किया, उसे जानना चाहते हैं तो संकटमोचनवाले पुराने बाबाके पास चले जायँ।

खैर! यह तो मालूम हुआ न कि बूढ़े—हिन्दू-धर्म—के कहनेके अनुसार "सूर्यके नीचे कोई चीज नई नहीं।"—मालवीयजीओंने करोड़ों बार ऐसे हिन्दू विश्वविद्यालय बनाये हैं, सर राधाकृष्णन्‌ने अनगिनत बार उसमें सोलहो आना गलत-सलत गीतोपदेश किये हैं, और सबसे बढ़कर तो यह बात है कि राहुलोंने भी अरबों…नीलों…संखों…महा-संखों…बार "वैज्ञानिक भौतिकवाद" ठीक इन्हीं पंक्तियों, इन्हीं वर्णानुपूर्वी, इसी हिन्दीभाषामें ऐसे ही मीठे-कड़वे शब्दोंमें लिखे हैं। हाँ, तब तो यह "वैज्ञानिक भौतिकवाद" उतना ही नित्य अपौरुषेय है, जितना कि जैमिनि-शबर-कुमारिल-रामानुज चौकड़ीका अपौरुषेय वेद। मैं तो पैगंबरोंकी भाँति "लौहे-महफूज"पर उत्कीर्ण "वैज्ञानिक भौतिकवाद" का सिर्फ पैगाम भर आपके सामने पहुँचा रहा हूँ, जैसा कि हर कलियुगके ईसवी १९४२ ई०में हिटलर-मुसोलिनीके रण-तांडवके समय मुझसे पहिलेवाले राहुलोंने किया था। यदि आप हनूमान्‌वाले बूढ़े, जैमिनि, कुमारिल…के सच्चे अनुयायी हैं, तो ईमान लायेंगे कि यह "वैज्ञा-निक भौतिकवाद" प्राचीनता अतएव पवित्रतामें वेद, बाइबल, जिन्दा-वस्था, इंजील, कुरान किसीसे कम नहीं है, और यदि इसमें कुछ और भी बुद्धिकी बात पाते हैं, तो "आमके आम और गुठलीके दाम।"

यह बात न समझिये कि यह पाप सिर्फ हिन्दुओंने ही किया है। यूनानी और इस्लामिक दार्शनिकोंमें चोटीके विचारक नित्य-ईश्वरको सिद्ध करनेके लिये जगत्‌की नित्यता (क़दामत्-आलम) को मानना बहुत जरूरी समझते थे, और अपनी बुद्धि-वादिता साबित करनेके लिये कार्य-कारणके नियमको विश्वमें सर्वदासे अटल मानते थे। "नदिया एक

घाट बहुतेरे" की कहावतके अनुसार इस रास्तेसे भी हम सीधे नियति-वादके उसी दलदलमें पहुँच जायँगे। हाँ, इन लोगोंको दलदलमें पहुँचकर ही नहीं, कंठतक गड़प हो जाने पर अरस्तूने एक तिनकेका सहारा थमाना चाहा—ईश्वर सामान्यका ज्ञान रखता है, विशेषका नहीं; जातिका ज्ञान रखता है व्यक्तिका नहीं। और इसपर भजनाश्रमके भगवद्भक्तोंने अरस्तूकी जो गत बनाई—जो थुक्कम-फजीहत की, उसे कहनेके लिये, उम्मीद है, आप मुझसे आग्रह नहीं करेंगे। भगवद्-भक्तोंने कानमें उँगुली डाली, और अरस्तूकी बात माननेकी जगह चुल्लू भर पानीमें डूब मरना पसंद किया।

खैरियत यही है कि यह सभी बातें गलत हैं। इतिहासके पन्नोंको देखनेसे मालूम होता है कि उसका कोई व्यक्ति कोई घटना वही नहीं होती। कारणका अस्तित्व जिस वक्त हम स्वीकार करते हैं, उसी वक्त कारणकी परिभाषा (परिवर्तन उपस्थित करनेवाला) भी कबूल करते हैं, और परिवर्तनके बाद फिर 'वही है' यदि कहते हैं, तो गोया परिवर्तन-से इन्कार करना चाहते हैं। फिर सिरेसे कहिये, कारण ही नहीं है—"न रहे बाँस न बजै बाँसुरी।"

३. वैज्ञानिक नियम

आप फिर सवाल करेंगे—जब हम प्राकृतिक घटना-प्रवाह पर गौर करते हैं, अपने आस-पासके वातावरण, परिस्थिति तथा सामाजिक जीवन पर विचार करते हैं, तो इन घटनाओंमें एक खास तौरकी नियमबद्धता देखते हैं—दिन, रात, वर्षा, वसन्त···। प्रकृतिके भीतर जो कुछ है—तारा-ग्रह-उपग्रहसे ले, क्षुद्रतम कण तक, सबमें एक नियमबद्धता पाई जाती है, जिसे कि प्राकृतिक नियम कहते हैं। इन्हीं नियमोंका पता लगाना साइंसका काम है। यही कार्य-कारण नियम है, जो कि प्रकृति और समाजमें हर जगह कल्पनाके तौर पर नहीं, वस्तु-स्थितिके तौरपर

पाया जाता है। साइंस इस कार्य-कारण-नियमका पता लगाकर प्राकृतिक घटनाओंको आकस्मिकतासे हटा नियम-नियंत्रित साबित करता है, और उनपर विश्वास कर साइंसकी देन—रेल, तार, हवाई-जहाज—को मनुष्यके उपयोग और उपभोगके लिये बनाता—चलाता है। प्रकृति-की हरएक चीजमें नियम है। छछून्दर धरतीके भीतर रहती है, जहाँ उसे अच्छी आँखकी उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी कि अच्छी श्रवण-शक्तिकी, और इसलिये छछून्दर दिव्य-श्रोत्र होनेका दावा कर सकती है। इसी तरह बहुत भारी गहराईमें रहनेवाली सामुद्रिक मछ-लियोंके शरीरपर अपार जल-राशिका जितना भार रहता है, उससे बचनेके लिये उनके शरीरके भीतरसे जितना दबाव बाहरकी ओर पड़ रहा है, वह, इतना अधिक है कि मछली पानीसे निकलते ही भीतरी दबावके कारण फट जाती है। इस तरह हम फिर कहते हैं—प्रकृति और समाज दोनोंमें ऐसा प्राकृतिक नियम मौजूद है, जिसे हम चाहे जानें या न जानें, वह अपना काम किये जाता है, जिसका अर्थ है प्राकृतिक घटनाओंकी भाँति सामाजिक घटनाएँ भी नियमसे बद्ध हैं।

और? उपरोक्त प्राकृतिक नियम अथवा उनमेंसे ज्ञात वैज्ञानिक नियम कार्य-कारण-नियम हैं। उनका काम है अतीतका अनागत (भविष्य) से सम्बन्ध जोड़ना। इसी अतीत-अनागतके अटल सम्बन्धके भरोसे ही किसान कातिकमें घरकी अन्नपूर्णाको खेतकी माटीमें गाड़ आता है, और महान् समाजवादी सोवियत् सर्कार पंचवार्षिक योजना बनाती है। यह कहनेका हमारा यह मतलब नहीं कि वैज्ञानिक नियम "जो चाहो सो पूछ लो" वाले जोतिषी बाबाकी अर्दलीमें हाजिर रहनेके लिये बनाया गया है।

इसका काम आनेवाली घटनाओंका सिर्फ भविष्य-कथन ही नहीं है, बल्कि घटनाको वैसा होनेके लिये भौतिक परिस्थितिको भी बनाना है। लेकिन, भौतिक परिस्थितिके बनानेमें कार्य-कारण-नियमने जहाँ हाथ

डाला, वहीं वह नियति(भाग्य)वादके चंगुलसे निकला। कारण कहते हैं ; परिवर्तन-कारकको परिवर्तन नयेके पैदा होनेको कहते हैं। फिर कार्य-कारणसे नियतिवादका कोई सम्बन्ध नहीं। साथ ही कार्य-कारणके अटूट सम्बन्धोंकी सहायतासे हम किसी कामके करनेमें हाथ लगा सकते हैं, यह भी ठीक है। यह दोनों परस्पर विरोधी बातें कैसे मानी जा सकती हैं---इसका उत्तर इस वक्तके लिये इतना ही है कि प्रकृति विरोध-समागमको प्राणोंसे प्यारा मानती है।

४. मनुष्यकी स्वतन्त्रता

कार्यकारण-नियमका नियतिवाद, ईश्वरवादसे कितना सम्बन्ध है, इसका जिक्र हो चुका है । ईश्वरवादियोंमें कुछ भगवान्‌दास तो आत्म-समर्पण करनेके लिये तैयार हैं---ईश्वरके हाथकी कठपुतली बननेको वह दूषण नहीं भूषण मानते हैं—और, दुनियाके दुःख, अन्यायको उसका 'भेद' कहकर भुलावा देनेकी कोशिश करते हैं। यद्यपि इसका उद्देश्य कितनोंके मनमें यही होता है कि वह खुद अपने शासन-क्षेत्रमें उसी तरहके अनुत्तरदायी भगवान् बन सकें ; किन्तु, सभी ईश्वरवादी इस तरह अक्लके पीछे लाठी लेकर फिरनेवाले नहीं हैं। वह ईश्वरकी वस्तु ईश्वरको, और जीवकी वस्तु जीवको देनेकी कोशिश करते हैं—अथवा दोनों पर सोचनेके लिये अपने मस्तिष्कमें काफी फासिलेके साथ उन्होंने दो कोठरियाँ बना रक्खी हैं, और एक समय दोनों बातोंको लेकर वह अपने तथा अपने मित्रोंके दिमागको परेशान नहीं करना चाहते। वह कहते हैं---ईश्वर सबका प्रथम कारण है, साथ ही जीवको कर्म और विचारकी स्वतंत्रता है।

लेकिन, यहाँ यह कहना पड़ेगा कि यह धर्म-घोषणा अधिकतर 'खानेके दाँत और दिखानेके और' की-सी है। आपको विचारकी पूरी स्वतंत्रता है; किन्तु जहाँ आपने ईश्वरकी सत्तापर ननुनच करना शुरू

किया कि 'बहूका मान कितना है' इसका पता लग गया। और कर्म-स्वातंत्र्यके बारेमें कुछ कहना तो और मुश्किल है। क्योंकि, वह तो उसीके लिये संभव है, जो "जबरा मारे रोने न दे" का नमूना हो। ईश्वरको अन्यायी समझकर लोग उसको छोड़ न बैठें; इसीलिये इन कर्म-विचार-स्वातंत्र्यकी बात कही जाती है, अन्यथा वह तो साफ है कि घास-घोड़ेकी यारी नहीं हो सकती। छोटी चादरमें यदि सिर ढाँकते हैं तो पैर नंगा, और पैर ढाँकते हैं तो सिर नंगा। यदि आप जीवको स्वातंत्र्य प्रदान करते हैं, तो उतने अंशमें ईश्वरकी सर्व-शक्तिमत्तामें कमी आती है, यदि ईश्वरको सर्वशक्तिमान मानते हैं, तो जीव अकिंचन हो जाता है। और ईश्वरकी सर्वज्ञताकी बात तो अरस्तूके मुँहसे आप सुन चुके हैं। अरस्तू चाहता था कि ईश्वर और जीव दोनोंकी सेवा करे। उसे दो नावोंपर चढ़नेवालेकी बात नहीं मालूम थी। उसने कहा—ईश्वर सर्वज्ञ है, किन्तु सर्वमें सामान्य शामिल है, विशेष नहीं; जातियाँ शामिल हैं, व्यक्तियाँ नहीं; ईश्वर मानवताको जानता है, गाँधी और गाँधिसुतको नहीं; गाय-जाति (गोत्व) को जानता है, नये "मुसल्मान" गो-भक्त श्रीराम शर्माके "विशाल-भारत" में छपनेवाली गायोंको नहीं।—शर्माजीके साथ हमारी सहानुभूति है, ईश्वरकी इस बेरुखीपर। किन्तु, अरस्तूने यह माननेके लिये अपने तैयार किया था। वह बेचारा जानता था, भेड़ोंके भड़कन्त स्वभावको। त्रिकाल-सर्वज्ञ ईश्वरके ज्ञानमें अतीत वस्तुओंके बारेमें जो कुछ मौजूद है, वह होकर रहेगा: जैसी मिट्टी जैसी आग बननेवाली है, वैसी बनकर रहेगी; जैसी सींग-पैर-नाक-कानवाली गाय जाति बननेवाली है, वह ईश्वरके ज्ञानमें पहलेसे मौजूद है, और वह वैसा बनकर रहेगी। इसका अर्थ हुआ ईश्वर परिस्थितिको जैसा होना चाहिये, वैसा ज्ञानमें बना चुका है, और नियत समयपर वह उसी रूपमें आ मौजूद होगी। मनुष्यके स्वातंत्र्यका कोई मूल्य नहीं यदि वह भी परिस्थितिमें परिवर्तन करनेका

उसी तरह अधिकारी न हो, जिस तरह कि परिस्थिति उसे परिवर्तित करती है। इसके बारेमें जब हम प्रकृति (प्रयोग) से पूछने जाते हैं, तो वह साफ कहती है कि परिस्थिति जिस तरह मनुष्यको बदलती है, उसी तरह मनुष्यने भी परिस्थितिको बदला है और बदल देनेमें लगा हुआ है।

५. तर्कनिर्भर नहीं, वस्तुनिर्भर हेतुवाद

प्रकृतिने जैसे दूसरे क्षेत्रोंमें कोरे तर्कको पछाड़ा है, वैसे ही स्वातंत्र्य और नियमबद्धताके संबंधमें भी वह उसके फंदेमें आनेवाली नहीं है। अपने अन्तस्तलमें अवस्थित एलेक्ट्रन्के बारेमें उसने दिखलाया है कि वह कण भी है और तरंग भी। तर्क बहुत चिल्लाता रहा किन्तु प्रकृति इस चिल्लपोंको नहीं सुनती। वह तो हरएक सत्य-अन्वेषकको एक बात कहती है—मेरा अनुगमन करो। "राजा करै सो न्याय" प्रकृतिमें जो देखो वही नियम है। यदि वहां नियम और अनियमका मिश्रण दिखाई पड़ता है, तो यही समझिये कि प्रकृतिके नियम वैसे ही हैं। विच्छेद-युक्त प्रवाह भी परस्पर विरोधी-सा मालूम होता है; किन्तु प्रकृतिने इसका अनुमोदन किया है। एक ही एलेक्ट्रन् कण हों और तरंग भी, यह भी परस्पर विरोधी मालूम होता है; किन्तु प्रकृति न सदा केवल सर्प-गतिको पसंद करती है, न मेंड़क-कुदानको। प्रकाश तरंग है; किन्तु क्वन्तम् सिद्धान्त बतलाता है कि उसके वितरणमें सिर्फ अविच्छिन्न प्रवाह ही नहीं पाया जाता, बल्कि बीच-बीचमें रुककर चलनेवाले फौव्वारेकी भाँति प्रकाश बंधे हुए मुट्ठे (=क्वन्तम्) में निकलता है।

इस तरहके नियम-अनियम-मिश्रित वादको देखकर कुछ बूढ़े लोग बुद्धके बूढ़े शिष्य सुभद्रकी तरह बोल उठते हैं—अच्छा हुआ, बूढ़ा नियम-वाद मर गया, अब हम जैसा चाहेंगे वैसा करेंगे। और, यह भी कि चूँकि प्रकृतिमें नियम नहीं है; इसलिए उसके वास्ते एक नियामककी जरूरत है।—वह भगवान् है। सोचिये—यदि प्रकृतिमें नियम है, इसलिए

एक नियामक ईश्वरकी जरूरत है; प्रकृतिमें नियम नहीं है, इसलिए एक नियामककी जरूरत है। इसको कहते हैं—"गाय भी हूँ, बच्छा भी हूँ।"

प्रकृतिके विरोधि-समागमवाले स्वरूपको जब तक आप समझनेकी कोशिश नहीं करेंगे, तब तक बराबर ऐसी गलती करते ही रहेंगे। मनुष्यमें स्वतंत्रता भी है; किन्तु दार्शनिक *परमार्थ*की नाप-तोलमें नहीं। मनुष्यमें परिस्थिति, आनुवंशिकताकी परतंत्रता भी है, किन्तु दार्शनिक परमार्थके अर्थमें नहीं। मनुष्य प्रकृतिको बदलता है, परिस्थितिको बदलता है। आनुवंशिकतामें बराबर परिवर्तन होता रहता है, और कभी तो ऐसा बड़ी कुदानका परिवर्तन होता है, जिसमें वह बनमानुषसे मानुषकी कोटिमें छलाँग मार देता है—इसे ही *जाति-परिवर्तन* कहते हैं। हम साइंस-सम्मत भविष्य-कथन भी कर सकते हैं, और भविष्यकी कर्म-योजना बनाकर ठीक फल पर भी पहुँच सकते हैं; किन्तु यहाँ भी प्रकृतिने अपने क्वन्तम्, अपने कण-तरंग, अपने विच्छेद-युक्त प्रवाहकी नीतिको छोड़ा नहीं है, और गला कसकर दम घोटनेका प्रयत्न नहीं किया है। लंदनमें इस साल कितने आदमी मोटरसे दबकर मरेंगे, इसे वहाँकी कौंटी-कौंसिल (कार्पोरेशन)का दस-पंद्रह सालका हिसाब—मोटरोंकी संख्या, यातायात-संचालनमें सुधारका मृत्यु-संख्यापर प्रभाव आदि—देखकर बतलाया जा सकता है। हाँ, वह संख्या परमार्थ संख्या नहीं होगी; बल्कि व्यवहार या प्रायिक संख्या होगी। व्यवहार-संख्या व्यवहार-परिमाण प्रकृति और प्रकृति-पुत्रोंके लिए पर्याप्त है। हाँ, दार्शनिकोंके लिए वह पर्याप्त नहीं है; इसलिए उनका दिल छोटा रहा करता है। एक बात और, मृतकोंकी संख्याके बारेमें सच्चा भविष्य-कथन उसे माना जाता है, जो कि घटनाके बहुत नजदीक हो। और साथ ही प्रकृतिने एक और सुभीता दिया है, वह [illegible] हम संख्याके प्रकाशनको पसंद करती हैं। [illegible] मोटरसे दबेंगे या नहीं, इसके लिए उसने ठीक प्रारब्धके ईश्वरकी भाँति

अपनेको अनभिज्ञ रखा है, जो कि उसके लिए गर्वकी बात है; यद्यपि वही बात ईश्वरके लिये भारी काला धब्बा होता। जोतिषी भविष्यद्वक्ताओं-की बात छोड़िये, वह तो दैवज्ञ हैं, और भारतीय सिद्धोंको भी छोड़िये, जिनकी सेवाका महान् व्रत गोरख-टीलेके "कल्याण" बाबाने ले रखा है, और जब-तब हमारे "विशाल-भारत" जैसे नागरिक भी उसमें पुण्यके भागी बननेके लिए लालायित हो जाते हैं।

प्रकृति परमार्थ नहीं प्रायिक मूल्यको पसंद करती है। क्वन्तम्, सापेक्षता, कण-तरंग, विच्छेद-युक्त-प्रवाह और विरोधि-समागमको अहर्निश् देखनेवाला साइंस भी उतनेसे संतुष्ट है। वह दोनों चरम पन्थको पसन्द नहीं करता—न उसे यन्त्रवाद, जकड़बंद कार्य-कारणवाद पसंद है, और नहीं कार्य-कारण-नियम-युक्त "परम स्वतंत्र न सिर पर कोई", अथवा आकस्मिक घटनेवाली घटनाओंसे बना संसार ही।

परमार्थकी जगह यह "प्रायिक" मूल्यका सिद्धान्त आधुनिक साइंसमें भारी महत्व रखता है।

६. प्रायिकता[1]

परमार्थ अटल, नित्य मान, किसी मृत गतिशून्य जगत्में मिल सकता है, जिसकी कल्पना दार्शनिक भले ही कर सकें; किन्तु उसका अस्तित्व कहीं नहीं है। परमार्थ मानके बिना परमार्थ मूल्य भी दार्शनिकों-की कल्पनामें ही स्थान पा सकता है। सारी दुनियाका व्यवहार—चाहे साधारण किसानको ले लीजिये अथवा इंचके लाखवें हिस्से तकको नाप लेनेवाले साइंस-वेत्ताको ले लीजिये, सबके नाप, सबकी तोलका मूल्य प्रायिक ही है, परमार्थ नहीं।

आइये साकार उदाहरण लेकर देखें—

---

[1] Probability.

हम बहुत शुद्ध मापवाली जरीब लेते हैं। जिसमें तापमान आदिका असर अत्यन्त कम पहुँचे, इसके लिये हमारी जरीब काँचकी है। आज हम खेत नापते हैं, कल और परसों भी…। मैं अपने दोस्तोंको भी कहता हूँ, कि आप भी माप लें। हम सभी पूरी सावधानी रखते हैं कि जरीब, त्रिकोन, नापी कहीं गलती न होने पाये। किन्तु, जब मैं एक दर्जन दिनोंकी अपनी नापियोंको मिलाता हूँ, तो वहाँ फर्क दिखाई पड़ता है। दोस्तोंकी नापियोंको मिलाता हूँ, तो वहाँ भी अन्तर पड़ता है। हमारे सामने मुश्किल आती है—किसको सच्चा मानें किसको नहीं। कुछ दोस्त दार्शनिकोंकी तरह राय देते हैं, जब आपकी नापियाँ आपसमें नहीं मिलतीं, न हम सभीकी नापियाँ आपसमें मिलती हैं, तो सब गलत हैं, कोई परमार्थ सत्य नहीं, इसलिये इन्हें छोड़ दें। हम सभी दार्शनिक नहीं हैं, और फिर मैं क्या इस दार्शनिकके कहनेसे अपने खेतको छोड़नेवाला हूँ। हम अपनी नापीके अंकोंको फिर मिलाते हैं, देखते हैं उनमें फर्क जरूर है; किन्तु उनमें कुछ संख्यायें ऐसी हैं, जो कि अंकोंकी एक खास सीमाके भीतर हैं—जहाँ सबसे कम और सबसे ज्यादावाली संख्या ९७·२४६ और ९७·३८७ बिस्वांसी (धूर) हैं, वहाँ अधिकांश संख्यायें ९७·३१६२, ९७·३१६३, ९७·३१६४ की भाँति कुछ सीमाओंके बीच होती हैं। हजारों नापियोंके करनेपर भी हम देखेंगे कि नापीका परिमाण सभी एक नहीं होता; किन्तु वह एक खास सीमाके भीतर ही ज्यादा मिलता है। जो नापी सबसे ज्यादा इस सीमाके भीतर आती है, हम उसे ही प्रमाण मानते हैं, अथवा ९७ बिस्वांसीसे ऊपरके दशमलव अंकोंको नगण्य समझ छोड़ देते हैं। जो बात यहाँ जमीनकी नापीके लिये है, वही दूसरी बारीक नापियोंके बारेमें भी समझें। नंगी आँखोंसे न दिखलाई देनेवाले अणुओं, परमाणुओंको जब हम अणु-मापक यंत्रसे नापते हैं, तो वहाँ भी यही बात पाते हैं; इसीलिये साइंसमें यह मानी हुई बात है कि परमार्थतया निश्चित मापपर पहुँचना असम्भव है। काल-निरपेक्ष

मशीनमें इस्तेमाल होनेवाले बॉल—गोलियों—की नापी बहुत ठीक होनी चाहिये ; क्योंकि उसके ऊपर मशीनकी उपयोगितामें कमी वेशी हो सकती है ; लेकिन वहाँ भी *परमार्थ* मापकी उम्मीद नहीं रखी जाती और १/१०,००० इंचकी कमी-वेशीको नहीं लिया जाता, और जितनी नापियाँ आपसमें इतनेका अन्तर रखती हैं, उन्हें शुद्ध माना जाता है। साइंस-संबंधी नापवाले औजारोंको और बारीकीमें जाना पड़ता है ; किंतु वहाँ भी परमार्थ नाप नहीं मिला करता, इसलिये १/१,००,००० इंचकी कमी-वेशीको नहीं लिया जाता। किसी किसी मशीनमें १/१,००० इंचकी कमी-वेशी होनेपर भी उसे शुद्ध माप मानते हैं। लकड़ीकी मशीनमें १/३२ इंचकी कमी-वेशीवाले माप भी शुद्ध हैं।

इतना कहनेसे स्पष्ट है, कि हमारा सारा काम *प्रायिक* परिमाणको शुद्ध, सत्य मान लेनेपर चल जाता है; उसे छोड़ हम किसी परमार्थके पीछे नहीं दौड़ते फिरते और न दार्शनिक के दिमागके सिवाय उसका कहीं पता है। दुनियामें जितने हिसाब होते हैं, सब इसी प्रायिक मापको ही लेकर चलते हैं। लकड़ी लोहेके कारखानों, मोटर-एरोप्लेनकी बनावट, इंचके लाखवें हिस्से तक नापनेवाली दूरबीन-फोटो-मापक आदि यंत्र, प्राणिशास्त्र तथा रसायनशास्त्रमें व्यवहृत होते सूक्ष्म नाप-तोलवाले यंत्र तथा हिसाब, कृषिकी योजनाका हिसाब, ग्रहण आदि बतानेवाले-ज्योतिष-गणित, दीवानी-फौजदारी अदालत तथा कानूनमें व्यवहृत होनेवाले परिमाण···मेंसे चाहे जिसको ले लीजिये; सभी जगह प्रायिक मापको शुद्ध माना जाता है, और परमार्थ मापको असंभव समझा जाता है। जो बात असंभव है, उसके न जाननेको अज्ञान नहीं कहा जा सकता, इसलिए ज्ञानकी सीमाका विस्तार करते-करते हम *परमार्थ*पर नहीं चरम *प्रायिकता* पर जब पहुँच जाते हैं, तो हम ज्ञानकी चरम सीमापर पहुँच जाते हैं। उसके आगेकी आशा रखना दुराशा मात्र है; और उसका वस्तु जगत्से कोई संबंध नहीं है, इसे हमें हमेशा ध्यानमें रखना होगा।

ख. सत्य असत्यका ज्ञान

१ सत्य

सत्यके बारेमें हलके दिलसे कह दिया जाता कि वह एक, अद्वितीय है। किन्तु क्या यह बात वास्तविकतापर निर्भर है? पूँजीपति और जमींदारके लिये यह परम सत्य है, कि मजदूर और किसान उसके लिये काम करें, और अपने हाथसे उठाकर जो उन्हें दे दे उसीपर सन्तुष्ट रहें। इस मार्गसे हटना नमकहरामी—असत्य मार्ग-को ग्रहण करना है। तिरुवन्नामलै-के ऋषि, पांडीचरीके मुनि, ...के जगतगुरु... तथा एनीबेसंट—'लोगों' उनकी आत्माको शांति प्रदान करें—के १२ अर्हत् और अर्हन्तियोंसे लेकर गली-कूचेमें डोलनेवाले छोटे मोटे सिद्ध महात्माओं तक सभी सेठ..., महाराजा...,नवाब... अभीष्ट इस सत्यकी पुष्टि अपने आशीर्वादसे करते हैं। फिर यह सत्य परम सत्य छोड़ और हो ही कैसे सकता है; क्योंकि ऐसे स्वार्थहीन त्रिकालदर्शी ब्रह्मलीन महापुरुषोंको क्या पड़ी है जो असत्यको आशीर्वाद देते फिरें। यद्यपि यहाँ हम जरूर कहेंगे कि और जगहोंकी धर्मकीर्तिके शब्दोंमें "निर्लज्जतामें बंधकी (व्यभिचारिणी) को भी मात करनेवाले"[1] कुमारिलका ऐसे सिद्ध-ब्रह्मलीन-महात्माओंके बारेमें यह घोषणा करना, सत्यसे बहुत दूर नहीं है।—

"वाणीकी असत्यताके हेतु (राग, द्वेष, मोह) दोष पुरुषोंमें मौजूद रहते हैं।"[2]

भारतके किसानों, मजदूरोंके लिये सत्य यही है, कि जो कमाये उसको पहले खानेका हक उन्हें होना चाहिये; जो नहीं कमाता उसे या तो भूखा मरनेके लिये तैयार रहना चाहिये, अथवा कमानेवालोंके सामने हाथ

---

१ "जयेद् धाष्ट्र्येन बंधकीन्"—प्रमाणवार्त्तिक १।६६७

२ "गिरां मिथ्यात्वहेतूनां दोषाणां पुरुषाश्रयात्।"—वही १।[illegible]

निकालकर हाथ पसारनेके लिये। दूसरेकी कमाई भाग्य-भगवान्‌की देनके नामसे यदि हलाल हो सकती, तो सभी चोरों-डकैतोंको जेलोंसे बाहर निकाल देना चाहिये।

सत्य ज्ञान

वैज्ञानिक भौतिकवाद मानता है, कि वास्तविक ज्ञान आदमीकी पहुँचके भीतर है। वास्तविक ज्ञान हम उसे ही मानते हैं, जिसका आधार विद्यमान भौतिक वस्तु है—ऐसी वस्तु जिसकी सत्ता मनुष्यके ज्ञान या कल्पनापर निर्भर नहीं है। सक्रिय, सजीव, वास्तविक मनुष्य और वस्तुसत् भौतिक (मानव-मस्तिष्क-) बाह्य अर्थों (पदार्थों)के संबंध तथा उनकी एक दूसरेपर होनेवाली क्रिया-प्रतिक्रियाओंको ज्ञान कहते हैं। जब तक बाह्य पदार्थोंके वस्तु-सत्ता होनेको स्वीकार नहीं करते, तब तक उसके संबंध तथा क्रिया-प्रतिक्रियाकी संभावना नहीं; फिर ऐसी अवस्थामें जो ज्ञान होगा वह वास्तविक नहीं अवास्तविक होगा, अतएव वह ज्ञान नहीं, अ-ज्ञान मात्र होगा।

फिर दार्शनिक कहेंगे, वस्तु-निर्भर ज्ञान कभी पूर्ण नहीं होता, वह हमेशा अपूर्ण रहता है, अपूर्ण ज्ञानको प्रमाण नहीं माना जा सकता; प्रमाण उसी ज्ञानका हो सकता है, जो पूर्ण है। इसका उत्तर यह है कि पूर्ण ज्ञान या आपकी परिभाषामें जिसे *परमार्थ-ज्ञान* कहते हैं, उसका कहीं पता नहीं, क्योंकि आपके ही कथनानुसार न वहाँ इन्द्रियाँ पहुँच सकती हैं, न बुद्धि। ऐसा परमार्थ ज्ञान सिर्फ श्रद्धावश ही माना जा सकता है। सत्य ज्ञान वही है, जो कि वास्तविक—वस्तु-निर्भर—है। सभी सत्य सापेक्ष हैं। साइंस और सभी मानवीय ज्ञान लगातार बदलता रहता है, इसलिये ऐसे सत्यसे बे-सत्यका ही रहना अच्छा है—यह संदेहवाद, निराकारवाद, विज्ञानवाद, शून्यवादकी ओरसे कहा जाता है; और उनमेंसे कितने तो यहाँ तक कह जाते हैं कि 'सत्य'कोई वस्तु ही नहीं है। ये सभी वाद कभी सत्यको नहीं पा सकते, अथवा हाथमें आये हीरेको परखनेकी उनमें शक्ति

ही नहीं है। यह वैज्ञानिक भौतिकवाद ही है, जो जानता है कि सापेक्षमें कैसे परमार्थ और परमार्थमें कैसे सापेक्ष सत्यको पाया जा सकता है। लेनिनका कहना है[1]—

"आप कहेंगे, सापेक्ष और परमार्थ सत्यका यह (आपका बतलाया) भेद स्पष्ट नहीं है। मैं उत्तर दूँगा कि काफी स्पष्ट न होने पर भी, वह साइंस को "मुर्दा, सुन्न, काठमारा मतवाद बननेसे बचा सकता है। लेकिन साथ ही वह इतना स्पष्ट है कि श्रद्धावाद, अज्ञेयवादके किसी छापेको (साइंसके तौर पर) रखने, और उसे ह्यूम तथा कांटके (—शंकराचार्य, विवेकानन्द, रामतीर्थको भी शामिल कर लीजिये) के चेलोंके दार्शनिक विज्ञानवाद तथा बाजीगरी बननेसे रोक सकता है। यहाँ (दोनोंके बीच) सीमा मौजूद है; किन्तु उसे आपने नहीं देखा। और न देखनेके कारण प्रतिगामी दर्शनके कीचड़में गिरनेसे अपनेको नहीं बचा पाया—यह (सीमा) है वैज्ञानिक भौतिकवाद और (शून्यवादी) सापेक्षतावादकी सीमा।"

और एन्गेल्सके शब्दोंमें—

"इस बातसे घबड़ानेकी जरूरत नहीं कि आज जिस ज्ञानकी अवस्थामें हम पहुँचे हैं, वह उससे ज्यादा पूर्णताको नहीं पहुँची है, जो कि इससे पहिले थी। अभी ही बहुत।विस्तृत (ज्ञान-) सामग्री जमा हो गई है, और कोई आदमी जो किसी एक साइंसमें विशेषज्ञ बनना चाहता है, उसके लिये इनका अध्ययन बहुत ही श्रमसाध्य कार्य है।"

हर शास्त्र शाखामें मनुष्यका ज्ञान कितना बढ़ चुका है, और हर रोज कितनी तेजीसे बढ़ता जा रहा है, यह हमारे भारी सन्तोषकी बात है। चूँकि ज्ञान पूर्ण नहीं है, उसमें वृद्धिकी बराबर गुंजाइश है, इसलिये उसकी वृद्धिको हम जहाँ छोड़ रहे हैं, हमारी अगली पीढ़ी उसे वहाँसे आगे ले जायेगी। यह देखकर हाथ पर सिर धरकर रोना बुद्धिमानीका काम

[1] Materialism p. 107

नहीं है। ज्ञानमें यदि पूर्णता—जिससे आगे और कोई वृद्धि नहीं—हो जाय, तो विश्वकी गति बेकार हो जायगी, गुणात्मक-परिवर्त्तनसे नये-नये गुणों, नई-नई वस्तुओंका उत्पन्न होना बन्द हो जायगा, और प्रगतिशील, सजीव, नव-नव-विकसित विश्वकी जगह वह अचल, मुर्दा, फ़ोसील-सा रह जायगा।

ज्ञानकी प्रामाणिकता—बदलते रहते ज्ञानकी प्रामाणिकता नहीं होगी, यह शंका फजूल है। सारे विश्व-ब्रह्मांडमें बदलती चीजें ही सारा काम कर रही हैं। यदि आप बढ़नेवाले नं होते तो माता या पिताके रज-अंड तथा वीर्य-कीट ही रह जाते। किसी भी अवस्थामें इस परिवर्तन, इस वृद्धिको रोककर देखिये। वीर्यकीट सिर्फ $\frac{१}{५००}$ इंच बड़ा होता है, माताका रज-अंड $\frac{१}{२५}$ इंच, दोनों मिलनेपर भी मानव-प्राणी सिर्फ $\frac{१}{५००}$ इंच-का होगा; वजन कितना होगा, यह इसीसे जानिये—सप्ताह भरका मानव-गर्भ सिर्फ $\frac{१}{५}$ रत्तीका होता है। छै मासका १ सेरके करीब। पैदा होनेपर स्वस्थ बच्चा २० इंच (डेढ़ हाथसे थोड़ा ऊपर) बड़ा और ३॥ सेर भारी होता है; जो बढ़ते-बढ़ते पंद्रह वर्षकी आयुमें ६२½-इंच (३॥ हाथ) लंबा और १ मन ८½ सेर भारी हो जाता है। आप सोच सकते हैं, जिस तरह शरीरकी वृद्धि रोकनेकी कामना शुभ-कामना नहीं कही जा सकती, वैसे ही ज्ञानकी वृद्धिको रोकनेकी कामना भी वही कर सकते हैं, जिन्हें मानव जातिका हितैषी नहीं कहा जा सकता। ज्ञानको दिनपर दिन बढ़ने दो, अगली पीढ़ीको पिछली पीढ़ी द्वारा खूब पराजित होने दो—"पुत्रादिच्छेत् पराजयम्।"

"सोचनेकी शक्ति रखनेवाले कितने ही अत्यन्त अपूर्ण मनुष्यों द्वारा विचारकी पूर्णता प्राप्त होती है। असीम सत्यका दावा रखनेवाला ज्ञान कितनी ही सापेक्ष भूलें करके प्राप्त होता है।"[1]

---

[1] Materialism (by Lenin)

"मनुष्यका ज्ञान (अपनी वृद्धिमें) सरल रेखाका अनुगमन नहीं करता ; बल्कि वह एक ऐसी वक्र-रेखाका अनुसरण करता है जो कि सदा वृत्तके बननेकी कोशिशमें रहती है—अर्थात् घूमघुमौआ चक्करमें। इस वक्र रेखा (घूमघुमौवे चक्कर)की हर एक टुकड़ी—हर एक खंड-को (एक छोरसे) एक स्वतंत्र, पूर्ण सरल-रेखामें बदला जा सकता है; जो कि सावधान न रहनेपर 'दलदल' (शासक वर्गके वर्गस्वार्थ द्वारा दृढ़ बनाये धर्मवाद में) गिरा देता है[1]।"

इसलिये सापेक्ष सत्यसे बाहर जाना, आँख बंदकर जंगलमें टहलने जाना है। वस्तुतः जो कुछ परमार्थ सत्य है, वह सापेक्षके भीतर ही है।

३. प्रयोग और सिद्धान्तकी एकता

दूसरे दर्शनों और वैज्ञानिक भौतिकवाद (साइंसके अधिनायकत्व) में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि वैज्ञानिक भौतिकवाद एकमात्र प्रयोगको ही सत्यकी कसौटी मानता है, उसके लिये कोई ज्ञान तब तक सत्य नहीं है, जब तक कि वह प्रयोगकी कसौटीपर पक्का नहीं उतरता। इसीलिये स्तालिनका कहना—"सिद्धान्त प्रयोगके बिना बाँझ है।" भगवद्गीताको किसी समय कर्मयोगकी कुंजी माना जाता था। तिलकने जेलमें बंद रहते वक्त गीतापर अपनी प्रसिद्ध पुस्तकको इसी मतलबसे लिखा था।—कितना ही आगे बढ़ने पर भी तिलक योगसे आगे नहीं जा सके। और वस्तुतः किसीकी तारीफसे नहीं बल्कि वृक्ष अपने फलसे पहिचाना जाता है। गीताने कर्म-युद्धके लिये तो लोगोंको उतना तैयार नहीं किया, जितना कि उस युद्धसे पलायनके लिये। वैज्ञानिक भौतिकवाद वास्तविक अर्थमें कर्मका दर्शन है। "दार्शनिकोंने सिर्फ जगत्की व्याख्याको परिवर्तित किया ; किन्तु हमारा काम है खुद जगत्को

---

[1] Lenin: On Dialectics.

परिवर्तित करना।"— मार्क्सने इस वचनमें वैज्ञानिक भौतिकवादके मर्मको निकाल कर रख दिया है।

मार्क्सने वैज्ञानिक भौतिकवादको जैसी अवस्थामें विकसित किया, उससे साफ हो जाता है कि मार्क्सका जोर प्रयोगपर इतना ज्यादा क्यों है। कितने ही लोगोंने पढ़ या सुन रखा है, कि मार्क्स पुस्तकोंमें डूबा रहता था, इसलिये उसके विचार पुस्तकके कीड़ों जैसे होंगे। इसमें शक नहीं, मार्क्स लंदनमें बृटिश-म्यूजियमके पुस्तकालयमें काफी समय देता था, उससे पहले पेरिसके बिब्लियोथिक-नाश्नल, तथा बेर्लिन, हाइडेलबेर्ग, और बोन विश्वविद्यालयोंके पुस्तकालयोंमें भी वह पुस्तकाध्ययनमें दत्तचित रहा था। किन्तु, यह समझना कि मार्क्स अपने क्रान्तिकारी सिद्धान्तपर सिर्फ पुस्तकोंको पढ़कर पहुँच गया, बिल्कुल गलत ख्याल है। मार्क्सवाद न १९१७ ई० की रूसी क्रान्तिमें पैदा हुआ, और नहीं १८६७ ई०में कापिटलके लिखे जानेके बाद; उसका जन्म १८४८ ई० से पहिले हुआ था। कापिटलके रूपमें मार्क्सवादका जन्म नहीं हुआ, बल्कि उसके रूपमें वह प्रौढ़ताको प्राप्त हुआ। मार्क्सवाद (वैज्ञानिक भौतिकवाद) का जन्म उन संघर्षोंमें हुआ जिनमें मार्क्स और एन्गेल्सने जवाबदेहीके साथ स्वयं क्रियात्मक रूपसे भाग लिया। १८४८ ई०की फ्रेंच-क्रांतिमें, पहिलेके क्रान्तिकारी आन्दोलनोंमें ही नहीं बल्कि खुद उस क्रान्तिमें, उन्होंने भाग लिया था। एन्गेल्सने जर्मनीके मजदूरोंके सशस्त्र विद्रोहमें क्रान्तिके हथियारबंद सिपाहीके तौरपर भाग लिया था, और मार्क्सने उसके गढ़ कोलोनमें रहते संघर्ष-संचालनमें ऐसा जबर्दस्त भाग लिया, कि गवर्नमेंटने दो बार उनपर फाँसीकी सजावाले देश-द्रोहका मुकदमा चलाया। यूरोप-में सर्वत्र फैलनेवाले मजदूर-विद्रोहका आरंभ मार्क्स एन्गेल्सने अपनी "कमूनिस्त घोषणा"से किया था, और इस विद्रोहकी बाढ़का अन्त मार्क्स-सम्पादित जर्मन दैनिकपत्र "नोये राइनिश् जाइटुङ्" (हामबुर्ग) के अन्तिम अंकके साथ १८५०में हुआ। १८५०-६४ ई० का समय है, जिसका बहुत-

सा हिस्सा मार्क्सने ब्रिटिश-म्यूजियमकी पुस्तकोंके अवलोकनमें लगाया। किन्तु यह वह समय था, जब कि युरोपमें किसी जगह खुले तौरसे क्रान्तिकारी आन्दोलन चलाया नहीं जा सकता था, और मार्क्सको वहाँ पैर रखनेकी जगह नहीं मिल रही थी। इन चौदह वर्षोंमें भी मार्क्स सिर्फ ब्रिटिश-म्यूजियमकी पुरानी जिल्दोंकी धूल ही नहीं चाटता रहा, बल्कि उस समय भी उसकी कलम क्रान्तिकी शक्तिको अधिक दृढ़ और बहु-देशव्यापी बनानेमें लगी हुई थी। अमेरिकन दैनिकपत्र "न्युयार्क ट्रिब्यून"में भारतकी राजनीतिक-सामाजिक अवस्था तथा क्रान्तिकी संभावनाके बारेमें मार्क्सने जो लेख लिखे थे, वे इसी समय (१८५२-५३ ई०)में लिखे गये थे।

१८६४ ई०के बाद हम मार्क्सको फिर संघर्ष-क्षेत्रमें देखते हैं, और तबसे १८७२ ई० तक वह अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-आन्दोलनका नेतृत्व करता है। उसके बाद अपने जीवनके अन्तिम समय (१८८३ ई०) तक मार्क्स फिर कलमके काममें लगता है, लेकिन साथ ही उसकी नजर उस समयके मजदूर आन्दोलनसे नहीं हटती और भविष्यकी मजदूर-क्रांति तथा मजदूर-शासनकी गहरी नींव रखना तो उसका एकमात्र काम हो जाता है।

इतना कहनेसे साफ है, कि वैज्ञानिक भौतिकवादका रास्ता गीता या वेदान्त के पलायनवादसे बिल्कुल अलग है। वह जगत्को छोड़ भागना नहीं चाहता, बल्कि जगत्को बदलना चाहता है। जगत्के बदलनेमें कर्म—संघर्ष-की जरूरत है, उसमें मुँदी आँखें नहीं, खुली आँखोंकी जरूरत है।

वैज्ञानिक भौतिकवाद किन वाद-प्रतिवादोंका संवाद है, यदि इस बात पर हम ध्यान देंगे, तो मालूम होगा कि वह क्यों इस प्रयोग और सिद्धान्तके समन्वयको चाहता है। वैज्ञानिक भौतिकवादमें दो अंश हैं एक द्वंद्ववाद, दूसरा भौतिकवाद। द्वंद्ववाद हेगेल्के विज्ञानवादसे आ, और भौतिकवाद सत्रहवीं-अठारहवीं सदीके यांत्रिक भौतिकवादसे। यांत्रिक भौतिकवाद भौतिकवादकी भौतिकता—वास्तविकताको स्वीकार करता था, पर उसका कमजोर पहलू था। किन्तु उसमें कितनी दुर्बलता-

परिवर्तन, किसी विच्छेदयुक्त-प्रवाहकी गुंजाइश न थी, इसलिये वह विश्वकी पूरी व्याख्या नहीं कर सकता था, न विच्छेदयुक्त-परिवर्तन—क्रान्ति—के लिये वह चतुर पथ-प्रदर्शक हो सकता था। इस भौतिकवादसे बिल्कुल उलटा हेगेल्का द्वंद्वात्मक विज्ञानवाद वर्कले और शंकर जैसा ठूँठा, कूटस्थ, एकरस विज्ञानवाद (विज्ञान=ब्रह्म सत्य और सब झूठा) नहीं था। हेगेल् उसे क्षण-क्षण परिवर्तनशील, वृद्धिपरायण मानता था। विश्व उसके लिये हर क्षण "है" नहीं, "हो रहा है" है। यह हेगेल्के द्वंद्वात्मक विज्ञानवादका मजबूत पहलू था। किन्तु, दूसरी ओर वह विश्वकी भौतिक सत्ता—वास्तविकता—को इन्कार कर अपनेको अ-वस्तुवादी साबित करता था। ऐसा वाद न वस्तु-सत् सिद्ध हो सकता है, न जीवनके किसी काममें आ सकता है। मार्क्स-एन्गेल्सने अपने वैज्ञानिक भौतिकवादमें पुराने भौतिकवादकी भौतिकता और हेगेल्के द्वंद्वात्मक विज्ञानवादकी द्वंद्वात्मकताको लेकर अपने दर्शनका विकास किया।

वैज्ञानिक भौतिकवादके अनुसार, विज्ञानवादी गलत रास्ते पर है, जब कि वह समझता है कि सत्यको हम सिर्फ अपने मस्तिष्क—मन—के भानमतीके पिटारेसे निकालकर रख सकते हैं। भौतिकवादी भी गलती करता है, यदि वह इस बातको नहीं समझता, कि सत्यको हम अपने मस्तिष्ककी सहायतासे प्राप्त करते हैं। मस्तिष्क हमें सिद्धान्त तक पहुँचाता है, भौतिकता हमें प्रयोग पर नजर रखनेके लिये मजबूर करती है। यही नहीं, जिस तरह भौतिकता मस्तिष्ककी जननी है, उसी तरह सिद्धान्तकी प्रसवभूमि प्रयोग है। बल्कि यह कहना चाहिये कि सिद्धान्त प्रयोगका सार-संग्रह है। आखिर सिद्धान्त हैं क्या? अनेक व्यक्तियों, अनेक पीढ़ियोंके लाखों प्रयोगों-तजर्बोंका ही परिणाम। इसीलिये सिद्धान्त-को अपने जीवनदायक प्रयोगके विरुद्ध जाना नहीं चाहिये। प्रयोगसे विरुद्ध सिद्धान्त सिद्ध-अन्त (सिद्ध-परिणाम) ही नहीं रह जाता। बिना पिताके पुत्रकी भाँति उसे पहिले अपने पिताको ढूँढ़नेकी जरूरत पड़ेगी

इसलिये जिस वक्त हम यह कहते हैं, कि सिद्धान्त और वादकी एकता आवश्यक है, उस वक्त यह भी ख्याल रखना चाहिये कि प्रयोग मूल है, सिद्धान्त उसकी शाखा है।

वैज्ञानिक भौतिकवादी दृष्टिसे प्रयोग और सिद्धान्तको किस तरह लेना चाहिये, इसे हमने बतलाया; यहाँ यह भी देखना है कि प्रयोग और सिद्धान्तके आपसी सिद्धान्तको दूसरे किस तरह मानते हैं।

१. कुछ लोग कहते हैं—प्रयोग और सिद्धान्तमें कोई समन्वय नहीं हो सकता। प्रयोग इस गंदी, स्थूल, असत्य, मायावाली दुनियाकी चीज है; सिद्धान्त चिर सत्य-शिव-सुन्दर है, दोनोंका क्या वास्ता! ये आकाशचारी हारिल हैं, जो "अज्ञेय"के हारिलकी तरह भी हार माननेके लिये तैयार नहीं, और उन्होंने सदाके लिये भू-परित्यागकी कसम खा रखी है।—हाँ, लेकिन मानसिक तौर ही से, इसकी परीक्षा लेनी हो, तो ऐसे किसी हारिल—हंस—परमहंस—तत्त्वज्ञानी—ब्रह्मलीन—महात्मा—को एक रसगुल्लेके बाद चीनेनसे लिपटे दूसरे रसगुल्लेको दिखाकर देख लीजिये। सिद्धान्त—दर्शन—ज्ञान ही सब कुछ है, उसके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, इस तरहके विचार रखनेवाले लोग, मकड़ीकी भाँति अपने भीतरसे (किन्तु अपने भीतरको भी स्वीकार करना तो उनके लिये मुश्किल है, इसलिये शून्यसे) सिद्धान्तको निकालते हैं।

२. दूसरे लोग हैं, जो प्रयोगसे एकदम इन्कार तो नहीं करते, किन्तु वह सिद्धान्तको ही प्रधान मानते हैं। उनकी दृष्टि (=दर्शन)में सिद्धान्त प्रयोगकी सन्तान नहीं है, वह एक स्वयंभू तत्त्व है। इनके लिये साइंस-का सारा परिश्रम, सारी सफलता कोई महत्त्व नहीं रखती, क्योंकि वह स्वयंभू होनेका दावा नहीं कर सकती। ऐसे सज्जनोंके लिये प्रयोगका आश्रित होना निम्न कोटिके लोगोंके लिये आवश्यक है: सिद्ध, महर्षि इससे ऊपर हैं। गांधी जैसे सिद्धके प्रति आभार प्रकट दिखानेवाले,

सदा आत्माकी आवाज सुननेके लिये कान लगाये रहनेवाले महात्मा इसी कोटिमें हैं।

३. तीसरी तरहके लोग प्रयोग और सिद्धान्तमें किसीको प्रधानता नहीं देते। वह तटस्थ, न्यायाधीश बनना चाहते हैं।—भौतिक विश्व असत्य है, इसलिये प्रयोगको प्रधानता कैसे दी जा सकती है? सिद्धान्त और प्रयोग दोनों ही कल्पना हैं, इसलिये उनमेंसे किसीको प्रधानता नहीं देनी चाहिये।

इसमें शक नहीं, इन तीनों तरहकी विचार-सरणियोंमें देखनेमें अन्तर है, किन्तु वस्तु-सत्की दृष्टिसे देखनेपर मालूम होगा, कि सबका उद्देश्य है भौतिकता—वास्तविकता—का विरोध करना, और मनुष्यको जगत्-परिवर्तनके कामसे हटाकर जगत्की ख्याली व्याख्यामें लगाना। इन सिद्धान्तोंमें प्रभु, शोषक-वर्ग क्यों इतना आनंद अनुभव करता है, इसके बारेमें ज्यादा कहनेकी जरूरत नहीं,—"जानि न जाइ निशाचर-माया" कहना काफी नहीं है, क्योंकि निशाचर-मायाका समझना उतना मुश्किल नहीं है, यदि आपके पास आँख-कान मौजूद हों।

सिद्धान्तकी कसौटी प्रयोग है, इसे सारे साइंस मानते हैं। वस्तुतः साइंस और अ-साइंसका भेद ही इसीमें है कि साइंस किसी वक्त भी अपने सिद्धान्तको प्रयोगकी कसौटी पर कसनेमें गफलत नहीं करता। प्रयोगके दौरानमें साइंसवेत्ता एक सिद्धान्तकी झलक पाता है, किन्तु उसे "अल्हाम", "दैवी वाग्" "आकाश-वाणी" "आत्माकी आवाज" कहकर अपनेको और दुनियाको वह धोखा देना नहीं चाहता। वह प्रयोगशाला में उसकी बड़ी बारीकीके साथ और अनेक बार परीक्षा करता है। सभी परीक्षाओंमें एक-सा ठीक उतरनेके बाद वह या तो उसे इस तरह सप्रमाण स-आकार लेखके रूपमें लिखता है, जिसमें दूसरे भी प्रयोग करके उसकी सत्यताको जान सकें; अथवा अपने सिद्धान्तकी सच्चाईको रेडियो, हवाई जहाज, दूरदर्शनके यंत्रोंके साकार रूपमें उपस्थित करता है।

इन बातोंको अंधेरी कोठरी, या मुग्ध भक्तोंके सामने ही दिखलाना चाहते हैं। जब तक उन बातोंको उसी तरह प्रयोगकी कसौटीपर कसा नहीं जाता, जब तक उनकी भौतिक व्याख्या नहीं हो पाती, तब तक उनका महत्व एक चतुर बाजीगरके 'जादू'से बढ़कर नहीं है। किन्तु जो सिद्धान्त प्रयोग-सिद्ध है, उससे वैज्ञानिक भौतिकवादी इन्कार कैसे कर सकते हैं? वैज्ञानिक भौतिकवादी यह भी मानते हैं, कि हमारे ज्ञानकी सीमा जो आज है, सौ साल बाद इससे ज्यादा बढ़ी रहेगी, हजार वर्ष बादके ज्ञानके समुद्रके सामने आजका ज्ञान तलाई जैसा मालूम होगा। मस्तिष्कके अंदर निहित शक्तिकी साइंसके तरीके पर खोज तो वर्तमान शताब्दीमें पावलोफ्-के युगान्तर उपस्थित करनेवाले प्रयोगोंसे शुरू हुई है। किन्तु इसका दृष्टान्त दे देकर ऐरे-गैरे-नत्थू-खैरे भी यदि अपनी सिद्धाईको मनवाना चाहें, तो यह उनकी अनधिकार-चेष्टा होगी। यदि आप समझते हैं, कि आप या आपके मित्रके पास कोई ऐसी अद्भुत मनो-वैज्ञानिक शक्ति है, तो उसकी परीक्षा प्रयोगशालामें हर तरहके मिथ्या-विश्वास-रहित साइंस-वेत्ताके सामने करवाइये; एक्स-रे, फोटो, केमरा, नाप-तोल किसी बातसे घबराइये नहीं—साँचको आँच क्या! यह कह कर जान बँचानेकी कोशिश मत कीजिये, कि हम प्रसिद्धि नहीं चाहते। आपके चेले-चाँटे कानों-कान जिस तरहका प्रोपेगंडा आपके बारेमें कर रहे हैं, वह मानवताके लिये अत्यंत अनिष्ट है। इसलिये, यदि आप इस शक्तिको "रोज़गार"का एक ज़रिया नहीं बनाना चाहते हैं, तो अच्छा है, आप या तो उसकी गलती समझें अथवा उसे साइंस-सम्मत एक तत्त्व—सिद्धान्त—साबित करें।

(१) करनी और कथनी—सिद्धान्त और प्रयोगकी एकताका मतलब यह भी है कि आपकी कथनी जैसी है, यदि करनी वैसी नहीं है, तो वह कौड़ीकी तीन है। कोई ब्रह्मज्ञानी वेदान्ती एक शिवालय बनाते हैं, तो इसका मतलब है कि सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, ब्रह्मके स्वरूप पर उनका विश्वास नहीं है। और फिर जब उस शिवालेके ऊपर बिजली

इन बातोंको अंधेरी कोठरी, या मुग्ध भक्तोंके सामने ही दिखलाना चाहते हैं। जब तक उन बातोंको उसी तरह प्रयोगकी कसौटीपर कसा नहीं जाता, जब तक उनकी भौतिक व्याख्या नहीं हो पाती, तब तक उनका महत्व एक चतुर बाजीगरके 'जादू'से बढ़कर नहीं है। किन्तु जो सिद्धान्त प्रयोग-सिद्ध है, उससे वैज्ञानिक भौतिकवादी इन्कार कैसे कर सकते हैं? वैज्ञानिक भौतिकवादी यह भी मानते हैं, कि हमारे ज्ञानकी सीमा जो आज है, सौ साल बाद इससे ज्यादा बढ़ी रहेगी, हजार वर्ष बादके ज्ञानके समुद्रके सामने आजका ज्ञान तलाई जैसा मालूम होगा। मस्तिष्कके अंदर निहित शक्तिकी साइंसके तरीके पर खोज तो वर्तमान शताब्दीमें पावलोफ्-के युगान्तर उपस्थित करनेवाले प्रयोगोंसे शुरू हुई है। किन्तु इसका दृष्टान्त दे देकर ऐरे-गैरे-नत्थू-खैरे भी यदि अपनी सिद्धाईको मनवाना चाहें, तो यह उनकी अनधिकार-चेष्टा होगी। यदि आप समझते हैं, कि आप या आपके मित्रके पास कोई ऐसी अद्भुत मनो-वैज्ञानिक शक्ति है, तो उसकी परीक्षा प्रयोगशालामें हर तरहके मिथ्या-विश्वास-रहित साइंस-वेत्ताके सामने करवाइये; एक्स-रे, फोटो, केमरा, नाप-तोल किसी बातसे घबराराइये नहीं—साँचको आँच क्या? यह कह कर जान बँचानेकी कोशिश मत कीजिये, कि हम प्रसिद्धि नहीं चाहते। आपके चेले-चाँटे कानों-कान जिस तरहका प्रोपेगंडा आपके बारेमें कर रहे हैं, वह मानवताके लिये अत्यंत अनिष्ट है। इसलिये, यदि आप इस शक्तिको "रोज़गार"का एक ज़रिया नहीं बनाना चाहते हैं, तो अच्छा है, आप या तो उसकी गलती समझें अथवा उसे साइंस-सम्मत एक तत्त्व—सिद्धान्त—साबित करें।

(१) *करनी और कथनी*—सिद्धान्त और प्रयोगकी एकताका मतलब यह भी है कि आपकी कथनी जैसी है, यदि करनी वैसी नहीं है, तो वह कौड़ीकी तीन है। कोई ब्रह्मज्ञानी वेदान्ती एक शिवालय बनाते हैं, तो इसका मतलब है कि सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, ब्रह्मके स्वरूप पर उनका विश्वास नहीं है। और फिर जब उस शिवालेके ऊपर बिजली

गिरनेसे बचानेके लिये लोहा गाड़ते हैं, तो इसका अभिप्राय यही है कि यदि मनुष्यने पहिलेसे सावधानी नहीं की, तो शिवके शासनमें रहनेवाली बिजली अपने मालिकके ही घरको नष्ट कर देगी। फिर तो ब्रह्मसे ज्यादा सर्वशक्तिमान् आपका साइंस है, जो कि बिजलीको ऐसी नाजायज हर्कत-से रोक सकता है। यहाँ करनी साफ कथनीके विरुद्ध जाती है।

यूरोप—विशेषकर अमेरिका—में कुछ दार्शनिक ऐसे हुए हैं, जो अपनेको उपयोगितावादी कहते हैं, और प्रयोगको भी मानते हैं। वस्तुतः साइंसके युगमें—जब कि सभी जगह प्रयोगों और प्रयोगशालाओंकी जयदुन्दुभी बज रही है; यह हो नहीं सकता था कि दार्शनिक-क्षेत्रमें उसकी गूँज न पहुँचती। किन्तु इन उपयोगितावादी दार्शनिकोंकी वही मिसाल है—जो चमकता है, सभी सोना नहीं होता। उनका सिद्धान्त है "वह सिद्धान्त या विश्वास ठीक है, जो काम करनेवाला (उपयोगी) होता है।" किन्तु इसकी मददसे धर्म, और भूत-प्रेत, जादू-मंतरको भी आप ठीक साबित कर सकते हैं। कुमारी मरियम् माईके चमत्कारोंके बहुत-से साकार उदाहरण मार्सेइ (फ्रान्स) के पहाड़ीवाले गिर्जेमें रक्खे हुए हैं—लंगड़े बैशाखी लेकर आये थे, माईकी कृपासे चंगे हो गये, उनकी बैशाखी टंगी हुई है; समुद्रमें जहाज डूब रहा था, माईके भक्तोंने "त्राहि माई! त्राहि माई!" की, जहाज सही-सलामत किनारे पहुँच गया, उन्होंने कृतज्ञतासूचक लेख माईके मकान (गिर्जे) में खुदवा दिया आदि आदि। उपयोगितावादी दार्शनिक कहते हैं, चूँकि इससे आदमीके निर्बल हृदयको दृढ़ता मिलती है—यह ठीक काम करता है—इसलिये यह विश्वास (सिद्धान्त) ठीक है। उनके सिद्धान्तके अनुसार यदि चोरका सिद्धान्त ठीकसे काम करता है, तो वह भी ठीक है—और इसीलिये तो उनके दिलमें पूँजीवादी लूटके लिये "साधु-साधु" के शब्द हैं। इन "प्रयोगवादियों" के दर्शनके दो मुख्य उद्देश्य हैं, एक तो प्रचलित वैयक्तिक या सामाजिक आचार-नियमोंके दोषोंकी ओरसे आँख मूँदकर

दर्शन, युक्ति, प्रयोगके नामपर उनका समर्थन करना, और इस प्रकार अपनेको धर्माचार्यों तथा शोषकोंका कृपापात्र बनाना ; दूसरे वह करनी या प्रयोगका अर्थ करते हैं—जिसे आप अपनी खुशीसे करने लग पड़ें। "उपयोगितावादी" प्रत्येक आदमीके लिये "सत्य", "विश्व", "वास्तविकता"को अलग-अलग मानते हैं; यह उपयोगितावाद प्रयोगवादके नामपर प्रच्छन्न विज्ञानवादको छोड़कर और क्या है? यह वाद अफलातूँ जैसे घोर विज्ञानवादीके वादसे फर्क नहीं रखता। उसने भी अपने *प्रजातंत्र*[१] में मनुष्यकी मनमानी तीन जातियाँ बनाई थीं। उनके बारेमें जब यह सवाल हुआ, कि लोग क्यों किसीको दार्शनिक समझ उन्हें समाजका हर्त्ताकर्त्ता मान लेंगे। अफलातूँने कहा—उन्हें बतलाना होगा कि मनुष्योंमेंसे कुछ सोनेकी धातुके बने हैं, कुछ पीतलके, कुछ लोहेके। लेकिन सब तो मिट्टीके एकसे बने हैं, फिर उन्हें सोनेका माननेवाला कौन आँखोंका अंधा मिलेगा!—बचपनसे ही ऐसा प्रोपेगँडा करते रहनेसे लोग इसे मान लेंगे। यह मानकर जब उसके अनुसार अफलातूँका प्रजातंत्र काम करने लग पड़ेगा, तो सोने-पीतलके आदमीवाला सिद्धान्त सही साबित हो जायगा। निश्चय इस तरहके "प्रयोगवाद"को भारतमें तो बहुत जोरसे बर्त्ता गया है। अफलातूँके सोने-पीतलवाले आदमियोंका प्रजातंत्र तो धरतीपर कभी कायम नहीं हुआ, किन्तु हिन्दुओंके ब्रह्माके मुँह-बाहु-उर-पैरसे पैदा होनेवाली वर्ण-व्यवस्था या "मरण-व्यवस्था" का राज्य तो अब भी हमारे सिरपर सवार है। यह व्यवस्था (सिद्धान्त) काम कर रही है, इसमें सन्देह करनेकी गुञ्जाइश कहाँसे हो सकती है, जब कि आप हर स्टेशनपर हिन्दू-पानी, मुसलमान-पानी देखते, हर व्याह-शादीमें श्रीवास्तव-खरे-कन्या श्रीवास्तव-खरे-वरको ठीक किये जाते पाते हैं। चूँकि यह "मरण-व्यवस्था" साढ़े तीन हजार वर्षसे ठीक तौरसे काम कर रही है, इसलिये यह कोलतारसे पुता नहीं, बल्कि

---

[१] देखो "मानव समाज" पृष्ठ ११७

दूधसे धुला सिद्धान्त है। इसकी और समुज्वल व्याख्या सुनना चाहते हों, तो संकटमोचनके पास जो आजकल "अभिनव व्यास"ने अपनी गीता-कथा जारी की है, उनसे जाकर पूछ लें।

(२) गाँधीवादी "प्रयोग"—हाँ, ऐसे "प्रयोगवादी" भारतमें एक जगह और मिलेंगे—सेवाग्राममें। वहाँके "सत्यके प्रयोग"-को इस वक्त भुला देना भारी कृतघ्नता होगी। चूंकि उपवासकी खबर दुनियामें बिजलीकी चालसे दौड़ जाती है, सेठ-सेठानी-चर्खापंथी-नेता चँवर लेकर आ घेरते हैं, और कभी-कभी बृटिश-गवर्नमेंटका आसन भी डोल जाता है (यदि कहीं एक छोटे शिखंडीका बाल भी नहीं हिलता तो उसकी पर्वाह नहीं) इसलिये उपवास महासिद्धान्त है। और सामूहिक-प्रार्थना ?— उसके महा-महासिद्धान्त होनेमें किसको सन्देह हो सकता है ?—जहाँ हजारों श्रोता गद्‌गद् हो "रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम" कर रहे हों, शहरमें प्रार्थनाकी खबर लगते ही बिना विज्ञापन बाँटे, बिना डुग्गी पीटे, हजारों आदमी क्रीड़ाक्षेत्र या बिडला-प्रासादमें जमा हो जाते हों; उस प्रार्थनाको काम न करनेवाली कौन कहेगा ? प्रार्थना जब इतना अच्छी तरह काम कर रही है, फिर उसके सत्य—सिद्धान्त—होनेमें शंका वही कर सकता है, जिसकी हियेकी फूट गई है। और चर्खा-प्रचार ? इसके सिद्धान्त होने—अर्थात् काम कर सकनेवाला (कामचलाऊ) होने—के बारेमें सबूत चाहते हों, तो सेठ पकौड़ी मल....कचौड़ीमल...से पूछ लीजिये। इस महासिद्धान्तके साथ भारी काम हुआ विदेशी कपड़ों-वस्तुओं—का भी बायकाट, जिससे स्वराज्य तो साल भरमें नहीं टपका, किन्तु मिलोंके पौ-बारह हो गये। मिल-मालिकोंने भी अपनी नेकनीयतीका सबूत खादी-यज्ञमें अपनी खादी भेजकर देना चाहा था, किन्तु गांधीजी महात्मा भले ही हों, पर उन्होंने महात्माओं जैसा विशाल हृदय नहीं पाया है; —एक बार कुछ समयके लिये भी यदि उन्हें काशी या हृषीकेशके

महात्माओंके चरणोंमें बैठनेका सौभाग्य मिला होता, तो निश्चय ही उनकी यह संकीर्णता दूर हो गई होती। हाँ, मगर चर्खा अभी वहीं टिमटिमा रहा है, जहाँ कि १६२२ ई०में था—आज युद्धके तीसरे वर्षमें फौजके कपड़ोंके लिये चर्खा-संघसे भी यदि टेंडर माँगा गया हो, तो उम्मीद है गाँधीजी युद्धकी सहायताका वास्तविक मूल्य समझते हुए इसे सफलता नहीं ख्याल करेंगे। लेकिन चर्खाको भारत और दुनियासे बिदा करनेवाली मिलें आज भारतमें एकच्छत्र राज्य कर रही हैं। चर्खा ही क्यों ? गुड़को भी गाँधीजीने अपने प्रयोगका एक अंग बना रखा है। गाँधीजी एक महान् गुड़-यज्ञ करना चाहते हैं, किन्तु "डूबा वंश कबीरका उपजे पूत कमाल", यदि चेलोंके मारे वह यज्ञ पूरा होने पाये तब न ? अपने कपड़ोंको खादीसे भी सस्ता कर मिलवालोंने उधर खादीकी रेढ़ मार दी थी, और अब पिछले दस वर्षोंमें गुड़-यज्ञके लिये उससे भी बुरा काम बिडला-डालमिया-साराभाई-बजाजकी चीनी-मिलोंने कर दिखलाया। बेचारे गाँधीजी डाल-डाल चलना चाहते हैं; किन्तु चेले पात-पातपर उड़ रहे हैं, करें तो क्या करें ?

गाँधीजीके और प्रयोगों—ब्रह्मचर्य, बकरीके दूध, मिट्टीकी चिकित्सा हाथका कुटा-पिसा चावल-आटा, मशीन-बायकाट आदि पर भी सुनना चाहते हैं ? यह सारे प्रयोग पूरी तौरसे सफल हुए हैं, किन्तु ठीक उससे उलटे अर्थमें, जिसमें कि गाँधीजीने उनका प्रयोग करना चाहा। ब्रह्मचर्य-के नाम पर चिराग तले इतना भारी अँधेरा है, कि आँखें फाड़-फाड़कर देखने पर भी कुछ पल्ले पड़नेवाला नहीं। बकरीके दूधका प्रयोग गोसेवा प्रयोगका एक अभिन्न अंश है; यद्यपि इसके समझनेमें मेरे मित्र श्रीराम शर्माको कुछ देर लगी थी, और उन्होंने इस प्रयोगके इनचार्ज सेठ जमुना लालकी प्रार्थनाको पहिले ठुकरा दिया; लेकिन सवेरेका भूला शामको यदि घर लौट आये, तो उसे भूला नहीं कहते। फिर शर्माजीका भी तो अपना प्रयोग है—उन्होंने सैकड़ों सूअरों और हिरनोंका शिकार किया है,

किन्तु अपने नामकी भी शर्म न की, और शिकारी रामके सारे प्रयोगोंको ताक पर रख, शूकर या मृगके मधुर मांसकी कभी एक फट्टी भी दाँतके नीचे नहीं दबाई ; आखिर बाबाका निशान कभी चूक सकता है—"सकल पदारथ एहि जगमाँहीं। करमहीन नर पावत नाहीं।" अपने रामने तो जिस दिन मनुस्मृतिमें पढ़ा कि शूकर-मांसके पिंडसे पितर वर्षो तृप्त रहते हैं, उसी दिन निश्चय कर डाला कि पितृ-ऋणसे उऋण होना होगा, और "जो इच्छा करिहौ मनमाँहीं। हरिप्रताप कछु दुर्लभ नाहीं" घरैल-वनैल दोनोंसे अनेक बार तर्पण हो चुका है।

हाँ, तो गो-सेवाके बेड़ेको बीच हीमें छोड़ना अच्छा नहीं है। इस सेवाके प्रयोगमें नियम हैं—भैंसका कम्प्लीट (सोलहो आना) वायकाट करना होगा, मारी गायका चमड़ा नहीं इस्तेमाल करना होगा, दूध-घी आदि सिर्फ गोरस होना चाहिये, भैंसरस नहीं ; अज-रसमें शायद महान् प्रयोगशास्त्रीको कोई एतराज नहीं है। शर्माजी पहले भड़के, पीछे ठीक हो गये यह बतला चुका हूँ ; किन्तु अपने रामकी भड़क अभी तक बदस्तूर-सात्विक बनी है। बकरीके बायकाट न करनेसे मुझे तो बहुत खुशी हुई। बकरीके दूध-घी से तो अपने रामका इतना ही वास्ता है कि यदि एक बूँद भी अजा-दुग्ध जिह्वा पर पड़ जाय, तो छै महीनेका खाना भी पेटमें न रह सके; इस बारेमें मैं गाँधीजीकी हिम्मतकी सराहना करता हूँ। खुशी मुझे इसलिये हुई, कि भारतमें मांसके नाम पर जो मांस हर जगह सुलभ है, वह बकरीका ही है। अच्छा ही हुआ जो यहाँ हमारा गाँधीजीका समझौता हो सकता है। किन्तु, खुदाकी कसम, भैंसका वाय-काट मुझे पसंद नहीं आया। यह नहीं कि लंकाके बौद्ध-गृहस्थोंके घरका बना लंका(मिर्च)-परिपूर्ण महिष-मांस मुझे याद आता है, बल्कि इसकी तहमें मैं दूध-घी जैसे प्राणिज आहारका भी वायकाट कर "लौटो घासपातकी ओर" के नारेको छिपा हुआ समझता हूँ। हाँ गो-सेवा यदि और व्यापक बनाई जाय और उसमें सांप्रदायिकता या हिन्दुत्वकी संकीर्ण दृष्टि हटाकर

हिन्दू, मुसल्मान, ईसाई, बौद्ध, नास्तिक (कमूनिस्त) तथा भारतीय, चीनी, युरोपीयसबको अपने-अपने धर्म, अपने-अपने विचार, अपनी-अपनी रुचिके अनुसार भाग लेने दिया जाय, तो गाँधीजी, थारा बेट्टा जीवे, हम सभी गो-सेवाव्रती बननेके लिये तैयार हैं।

(*गुहा-मानवका नारा*)— गाँधीजीके प्रयोगवादमेंसे मिट्टीकी चिकित्साके बारेमें दो शब्द जरूर कहने हैं, मेरे मित्र आनंद कौसल्यायनने अपने पत्र (५ मार्च १९४२ ई०) में लिखा है "(वह) २४,२५ इन्जेकशन ले लेकर थक गये। अब मेरे कहनेसे प्राकृतिक चिकित्सा(मिट्टी पानी)के प्रयोगोंका परीक्षण करने जा रहे हैं। आप···तो आपरेशन-इन्जेक्शनवादी हैं।" गाँधीजीका जादू बुद्धके एक योग्य शिष्यपर भी चल गया। कैसा रमणीय विरोधि-समागम है—कहाँ बुद्ध और उनका शिष्य जो भक्तिकी परछाईं भी छूना नहीं चाहता और सिर्फ बोध—ज्ञान—को अपना पथ-प्रदर्शक बनाता है ; और कहाँ गाँधीजी जिनको भगवान्‌की भक्ति ही।जीवनमें सबसे बड़ा संबल है! कहाँ बुद्ध और उनका शिष्य जो क्षणिकवाद—पिछली दुनियाको सर्वदाके लिये नष्ट हो जाने पर हर वक्त बिल्कुल नई दुनियाके बनने—को मानते हुए, पुरानीको बुद्धके शब्दोंमें "तं कुतोत्थ लब्भा" [1] कह उसे उसके भाग्य-पर छोड़, नवीन उत्साहसे नवीन पथपर चलनेके लिये तैयार ; और कहाँ गाँधीजीकी सनातन चिरस्थविरा दुनिया, जिसमें लौट जानेके लिये उनका पुराना नारा! "लौटो गुहा-मानवकी ओर[2]"। खैर ! हम वैज्ञानिक भौतिक-वादियोंके लिये *विरोधि-समागम* बिल्कुल स्वाभाविक वाद है। हाँ, हम इतना जरूर कहेंगे कि क्षणिकवादी अन्-आत्मवादका महान् आचार्य बुद्ध,

---

[1] "वह यहाँ (फिर) कहाँ मिलनेवाला है।"

[2] Back to cave-man.

द्वंद्ववादी भौतिकवादके महान् आचार्य मार्क्सकी भाँति ही सैकड़ों बातोंमें अपने समयसे बहुत दूरतक देखता था। मिट्टी-पानीकी गाँधी-आनन्दशाही चिकित्साको जरा ढाई हजार वर्षके इस बूढ़ेके सामने ले चलिये तो। "श्रमण सुकुमार" होनेपर भी वह मार्क्सकी भाँति लंदन नगरीमें नहीं रहता था, जिससे कि उसपर 'नागरिकताका भूत सवार' कहा जा सके। साथ ही वह गाँधी और आनन्दसे चिकित्सा-शास्त्रपर कम अधिकार नहीं रखता था, यह उसके उन नुस्खोंसे सिद्ध है, जो महावग्ग (विनयपिटक)के भैषज्य-स्कंधकके बड़े साइजके ४१ पृष्ठों[1]में लिखे हुए हैं, और जिसके कारण ही बुद्धका दूसरा नाम भैषज्य-गुरु पड़ा। इसी भैषज्य-गुरुकी प्रेरणासे अशोकने अपने ही राज्यमें चिकित्सालय नहीं बनवाये; बल्कि यूनानी राजाओंके राज्य (मिस्र, सीरिया आदि)में भी औषधियोंके बगीचे लगवाये, और उसके कुछ शताब्दियों पीछे हिन्दी-चीनमें तो बाकायदा सार्वजनिक दातव्य औषधालयोंका ताँता बँधा हुआ था। निश्चय ही भैषज्य-गुरुके इन चिकित्सालयोंमें वैद्य लोग सिर्फ मिट्टी-पानी लेकर नहीं बैठे रहते थे; बल्कि यदि उन्होंने शब्दवादके घोर विरोधी प्रयोगवादी बुद्धके आदेशके अनुसार बीचकी शताब्दियोंमें और तरक्की न की हो, तो भी वहाँ "भैषज्य-स्कन्धक" की निम्न औषधियाँ तो जरूर थीं-- रीछ-मछली-सोंस-सूअर-गदहेकी चर्बीवाली दवाइयाँ[2]; हल्दी अदरक, बच, अतीस, खस, नागरमोथा और दूसरी जड़ (मूल)-वाली दवाइयाँ; नीम, कुट, पटोल आदि कषायवाली दवाइयाँ; नीम, कुट, तुलसी, कपासी आदि पत्तेकी दवाइयाँ; विडंग, पीपर, मिर्च, हर्रा-बहेरा-आँवला आदि फलोंकी दवाइयाँ; हींग, तक आदि गोंदवाली दवाइयाँ; सामुद्रिक, काला, सेंधा, वानस्पतिक आदि नमकवाली दवाइयाँ और चूर्ण

---

[1] देखो "विनयपिटक" (मेरा अनुवाद) पृष्ठ २१४-२५५

की दवाइयाँ[1]। सूअर आदिकी चर्बी सिर्फ मालिशके लिये ही नहीं खाने के लिये विधान की गई है, इसका भी ख्याल रखिये ; और बुद्धकी इस रायको देखिये--किसी खास रोगसे पीड़ित एक शिष्यने "सूअर मारनेके स्थान पर जाकर कच्चे मांसको खाया, कच्चे खूनको पिया ; और उसका वह रोग शान्त हो गया[2]।" यह बात मालूम होने पर बीसवीं सदी ईसवी-के गाँधी बाबा और उनके समर्थक आनन्दबाबा क्या उपदेश देते, यह आप सुन चुके हैं। और आजसे पच्चीस सौ वर्ष पहिले बुद्धने इसी पुण्य-भूमि भारतकी पुनीत पुरी श्रावस्ती[3]में क्या कहा था ?[4]-"भिक्षुओ! अनुमति देता हूँ....रोगमें कच्चे मांस और कच्चे खूनकी।"

बुद्धकी औषधि-सूचीमें मिट्टी-पानीका नाम नहीं पावेंगे ; बल्कि वहाँ उपरोक्त औषधियोंके अलावा मिलेंगी—अंजन (सुर्मा), अंजनदानी, सलाई, सिरका तेल, तथा नाकमें नस डालनेकी नली (इंजेक्शन नहीं, यह बात ठीक है !), सिगरेटकी भाँति पीनेकी धूमवत्ती ("अनुमति देता हूँ धूयेंके पीनेकी[1]"), धूम-फोंफी (पाइप), वातका तेल, दवामें मद्य। जो कुछ आपरेशन-इंजेक्शन उस समय था, उसे मिट्टी-पानेवाले दादाके गुरु (बुद्ध) लोककल्याणके लिये स्वीकार करते थे, इसीलिये तो उन्होंने निम्न चिकित्साओंका भी समर्थन किया—स्वेदकर्म (पसीना निकालना), सींगसे खून निकलवाना, मालिश और दवा, मलहम-पट्टी, सर्प-चिकित्सा, विप-चिकित्सा। और आपरेशन ? सुनिये शाक्यसिंह के सिंहनादको—"अनुमति देता हूँ शास्त्रकर्म (आपरेशन) की।"[3] बोलो "गाँधी बाबाकी जय !" बोलो "भदन्त आनन्द कौसल्यायनकी

---

[1] "विनय-पिटक" (हिन्दी) पृष्ठ २१६-२१७। [2] वहीं पृष्ठ २१६।

[3] वर्तमान सहेट-महेट, जिला गोंडा-बहराइच।

[4] देखो "विनय-पिटक" पृष्ठ २२१।

जय" ; और इसीलिये बोलो "शाक्यसिंहकी जय", और उसके दिखलाये रास्तेसे सीधे वैज्ञानिक भौतिकवाद तक पहुँच जानेवाले "महानास्तिक राहुल सांकृत्यायनकी जय।"

हाँ, तो गाँधीजीके "लौटो गुहा-मानवकी ओर"के नारेमें फंसकर भोले-भाले आनंदजीकी क्या गत हुई, यह तो आपने देख लिया, अब इस नारेके बारेमें एक बात जरूर कहनी है। बुद्ध कालवादी थे—देश-काल-व्यक्ति देखकर वह अपनी सम्मति देते थे। वह हवामें तलवार चलाना पसंद नहीं करते थे, वही बातें उनके इस छोटेसे शिष्य राहुलकी भी है—हाँ, शिष्यताका अधिकार मैंने छोड़ा नहीं है, बल्कि "मेरे उपदेशित-धर्मको बेड़ेकी तरह जानो, वह पार उतरनेके लिए है, ढोकर ले चलनेके लिए नहीं"[१]—उनके इस उपदेशका पालन करते हुए ही मैं क्षणिक (=द्वंद्वात्मक) अन्-आत्मवादसे द्वंद्वात्मक भौतिकवादपर पहुँचा। हाँ, तो यदि आप गुहा-मानवकी ओर लौटना चाहते हैं, तो पहले गुहा-मानव बनिये। कपड़ोंको दूर फेंकिये; नाई-अस्तुरेको पास फटकने न दीजिये; ऐसे जंगलमें जाइये जहाँ सेठ-सेठानियाँ क्या, आजकी सभ्यताका जरा भी चिन्ह न हो—लोहेका बाण-फल तक भी जिनमें पाया जाय, ऐसे आदमियोंकी छायाको भी पासमें फटकने न दीजिये।—गोया पहले अपने साथ गुहा-मानवका वातावरण बनाइये। स्वास्थ्यपर वातावरणका भारी असर होता है—गुहा-मानववाले किसी घोर जंगलमें जानेसे आपके बहुतसे रोग स्वयं मिट जायँगे, यह मैं मानता हूँ। लेकिन आहार? मैं अपने मित्र आनंदजीके बारेमें तो अच्छी तरह जानता हूँ, कि वह मेरी तरह अका-व-कालुरको हजम कर जानेकी क्षमता नहीं रखते। और प्राकृतिक चिकित्सार्थ गुहा-मानवका आहार सबसे ज्यादा जरूरी चीज है। आहारके लिये गुहा-मानवके नुस्खेको बतलानेका मतलब है, अपने एक ऐसे मित्रसे हाथ धोना, जिसके बिना दुनिया जीवन भरके लिये नीरस हो जायगी। फिर

[१] "मज्झिमनिकाय"

ऐसे नुस्खेका बताना तो दूर, उसे यदि वह दूसरेसे लेकर भी प्रयोग करना चाहेंगे, तो मैं उनकी नाराजगीकी पर्वाह न कर सारी सामग्रीको नजदीकके नापदानमें फेंक दूँगा। मुझे विश्वास है, मैं अपने भूले मित्रको रास्तेपर लानेमें सफल हो जाऊँगा। हाँ, यदि गांधीजीकी फलाहार-मंडली—जिनमें ढोंगियोंकी संख्या ही सबसे ज्यादा है—चाहे, तो वह नुस्खा हर वक्त हाजिर है। उसके तजर्बेसे उन्हें मालूम हो जायगा कि वह सचमुच आदमीको उस जगह पहुँचा देगा, जहाँ कि आज वह गुहा-मानवकी दुनिया पहुँची हुई है।

तृतीय अध्याय

मूढ़ विश्वास

वेद-प्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
सन्तापारम्भः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पंच लिंगानि जाड्ये॥"

—धर्मकीर्ति[1]

वैज्ञानिक भौतिकवाद एक प्रकाश है, जिसके पा जानेपर मूढ़ विश्वासोंका परखना मुश्किल नहीं है। लेकिन, यह भी ख्याल रखना चाहिये कि उपरोक्त पंक्तियाँ आजसे साढ़े तेरह सौ वर्ष पहले नालन्दाके एक महान् प्रोफेसरने इसी ख्यालसे लिखी थीं कि उसके देश-भाई "अकल-मारे-हुओंकी जड़ताके" इन पाँच चिह्नोंको अपने ऊपर न लगने देंगे। किन्तु, परिणाम क्या हुआ ? जड़ताके पाँचों चिह्न पैर तोड़कर भारतके कोने-कोनेमें बैठ गये ; और धर्म-कीर्तिके ही शब्दोंमें "धिक् व्यापकं तमः" का राज्य हो गया। यह भारतीय कान्ट+हेगेल अपने लिये उस समयको अनुकूल नहीं समझता था, तभी तो उसने अपने महान् ग्रंथ (प्रमाण-वार्तिक)को समाप्त करते हुए लिखा था—

"मतं मम जगत्यलब्धसदृशप्रतिग्राहकं,
प्रयास्यति पयोनिधेः पय इव स्वदेहे जराम्।"

---

[1] प्रमाण-वार्तिक १।३४३ "(१) वेदको प्रमाण मानना, (२) किसी (ईश्वर) को कर्त्ता कहना (३) (गंगादिमें) स्नानसे धर्म चाहना (४) (छोटी-बड़ी) जातिकी बातका अभिमान (५) पाप नष्ट करनेके लिये सन्ताप (उपवास आदि) करना—ये पांच अकल-मारे-हुओंकी जड़ताके चिह्न हैं।"

(मेरे विचार जगत्में 'अपने' लायक ग्राहकको न पा समुद्रके जलकी भाँति अपने गात्रमें ही जीर्ण हो जायेंगे।) और सचमुच भारतमें धर्म-कीर्तिका अन्तिम संस्मरण आजसे साढ़े सातसौ वर्ष पहले उनके विरोधी श्रीहर्षके मुखसे सुना गया था—

"दुरावाध इव धर्मकीर्त्तेः पन्था तदत्रावहितेन भाव्यमिति" [1]

किन्तु, आज भारतके मार्क्सवादी धर्म-कीर्तिका स्वागत करनेके लिये तैयार हैं, और वह अपनी मातृभूमिको एक नहीं, हजार गाँधियों, राधा-कृष्णनोंके होते भी ध्वस्त-प्रज्ञोंके जाड्यके पाँचों चिह्नोंसे मुक्त करनेके लिये कटिबद्ध हो गये हैं। इस काममें वह अकेले नहीं है, बल्कि सारे विश्वकी एक जबर्दस्त कर्मठ सेना उनके साथ है।

क. धर्म और धार्मिक तत्त्व

मनुष्यके मूढ़ विश्वासों—जड़ता-चिह्नों—को धर्म-कीर्तिने पाँच भागोंमें बाँटा है; किंतु आज मूढ़ विश्वासोंकी नई फसलें भी तैयार हुई हैं। इन सारे मूढ़ विश्वासोंका खंडन करना न इस छोटी-सी तीन अध्यायकी पुस्तिकामें मुमकिन ही है और न उसकी जरूरत ही है। नालंदाके एक दूसरे प्रोफेसर (शांतिदेव)के शब्दोंमें काँटोंसे बचनेके लिये सारी धरतीको चमड़ेसे ढँकनेकी जगह अपने दोनों पैरोंको ढाँक लेना काफी है। [2]

१. धर्म बेकार

धर्मके लिये ईश्वर अनिवार्य सहचर नहीं है; क्योंकि हम जानते हैं, बौद्धधर्म धर्म होते भी ईश्वरको नहीं मानता ; एक हद तक जैन भी इस बातमें बौद्धोंका साथ देते हैं। किन्तु, हिन्दुओं, ईसाईयों, यहूदियों, पार-

---

[1] "खण्डनखण्डखाद्य"—"धर्म-कीर्तिका मार्ग दुराबाध-जैसा है, सो यहाँ सावधान रहना चाहिये।" [2] बोधिचर्यावतार १।

स्तियों और मुसल्मानोंके लिये ईश्वरके बिना मजहबका ख्याल भी मुश्किल मालूम होता है, जैसा कि विदेशमें एक मुसल्मान सज्जनके इस उद्गारसे पता लगता है, जिन्होंने कि जिंदगीमें पहले-पहल बौद्धधर्मकी इस विशेषता-को सुनकर कह डाला था—'या अल्लाह, यह भी कोई मजहब है, जिस-में अल्लाह ही केलिये जगह न हो!"

हेगेल्के शिष्य फ्वेरबाख्की पुस्तक "ईसाइयत-सार"[1] का जिक्र पहले हो चुका है। इसमें उसने ईसाइयतको नमूनेके तौरपर रख उसके द्वारा एक तरह सारे ईश्वरवादी और कुछ हद तक दूसरे धर्मोंका भी विश्लेषण किया है। फ्वेरबाख् एक जगह लिखता है[1]—

"धर्म मानवको अपने आपसे विलग करता है। वह (मनुष्य, धर्म-द्वारा) ईश्वरको अपने प्रतिद्वंद्वीके तौरपर अपने सामने रखता है। —ईश्वर वह है, जो कि मानव नहीं है, मानव वह है जो कि ईश्वर नहीं है।...ईश्वर और मानव दो (परस्पर विरोधी) छोर हैं; ईश्वर पूर्णतया भावरूप है, (वह) सभी वास्तविकताओंका योग है; मानव पूर्णतया अ-भावरूप है, (वह) सभी अभावोंका योग है।"

आगे फ्वेरबाख् फिर कहता है[2]—

"...धर्म पवित्र हैं, क्योंकि वह (मानवकी) आदिम आत्म-चेतना-की गाथायें हैं। किन्तु धर्मोंमें जिस ईश्वरका स्थान प्रथम है—वह स्वतः सचमुच देखने पर द्वितीय (स्थानके योग्य) है, क्योंकि मनुष्यके (उच्च) स्वभावको साकार तौर पर सोचनेके अतिरिक्त वह और कुछ नहीं है; और जो धर्ममें मानव द्वितीय स्थान पर रखा गया है"

---

[1] Essence of Christianity p. 33

[2] वहीं २७०-७१।

उसे प्रथम *बनाना* और *घोषित* करना चाहिये। मानवके लिये प्रेम किसी दूसरे (ईश्वर) के संबंधसे नहीं बल्कि स्वतः होना चाहिये। यदि मानवके वास्ते मनुष्यका स्वभाव सर्वोच्च है, तो *मानवके लिये मानवका प्रेम* ही सर्वोच्च तथा प्रथम कानून भी होना चाहिये। *मानव मानवके लिये ईश्वर* है ; यह एक महान् क्रियात्मक सिद्धान्त है ; यही वह धुरी है, जिसपर जगत्‌का इतिहास चक्कर काटता है।"

जर्मन दार्शनिक फ्वेरबाखको ईश्वरका मानवके स्थान पर बैठना पसंद न आया, इसलिये यद्यपि वह इसका विरोध करता है, तो भी उसकी नम्रता स्वयं धार्मिक भावुकतामें पली हुई है। फ्वेरबाखकी भावुकताको उसके समकालीन मार्क्सवादी किन अर्थोंमें लेते थे, उसके लिये एन्गेल्सके इन वाक्योंको देखिये[1]—

"वह (फ्वेरबाख) कभी धर्मको खतम नहीं करना चाहता, बल्कि वह उसे पूर्ण करना चाहता है। (उसके मतसे) खुद दर्शनको धर्ममें मिला लेना चाहिये।"

फ्वेरबाख (१८०४-७२ ई०)से वोल्तेर (१६६४-१७७८ ई०)का भाव इस विषयमें ज्यादा साफ है, जो होना भी चाहिये था ; क्योंकि फ्वेरबाख जहाँ कोरा दार्शनिक था वहाँ वोल्तेर उन चिनगारियोंका बोनेवाला था, जो कि उसकी मृत्युके दस ही साल बाद उस प्रचंड फ्रेंच-क्रान्तिको लानेमें सफल हुईं, जिसने दुनियामें स्वतन्त्रता—भ्रातृता—समानताका नारा पहिले-पहिल बुलंद किया। वोल्तेर कहता है—[1]

"ईश्वरका ज्ञान हमारे भीतर प्रकृतिके हाथों द्वारा नहीं डाला गया है ; ऐसा होता तो सारे मनुष्योंको इसका एक ही समय विचार होता ; किन्तु हम ऐसे किसी विचारके साथ नहीं पैदा हुए हैं।..."

---

[1] Ludwig Feuerbach p. 43

[1] Philosophical Dictionary ("God") 1765

वोल्तेरके शब्दोंको क्रान्तिका आवाहन करना था; इसलिये वह उन्हें चिनगारियोंसे ही लिख सकता था; वोल्तेरको दाद देनी चाहिये कि इकहत्तर वर्षकी आयुमें भी वह इन चिनगारियोंसे खेल सकता था, जिस अवस्थामें कि हमारे देशके कितने ही राजनीतिज्ञ तपोवनकी तैयारी करने लगते हैं—गाँधी-युगके राजनीतिज्ञोंके बारेमें मत पूछिये, उनके लिये घर और तपोवन दोनों बराबर हैं, बस वह सिर्फ अनासक्ति योगपर ध्यान रखते हैं। लेकिन २६ वर्षका मार्क्स धर्मपर कैसे अंगारे फेंक रहा था, उसे भी देखिये—

"मनुष्य धर्मको बनाता है, धर्म मनुष्यको नहीं बनाता।...यह राज्य और समाज है जो कि धर्मको पैदा करता है।...इसलिये धर्मके विरुद्ध लड़ना अप्रत्यक्ष-रूपेण, उस दुनियाके विरुद्ध लड़ना है; जिसका आध्यात्मिक प्रभा-मंडल धर्म है।

"धर्म(पुस्तकों)में कथित दुःख (नर्क आदि) बिल्कुल वास्तविक दुःखका प्रकाशन और उस *वास्तविक* दुःखके प्रति विरोध प्रकट करना है। धर्म विपत्में फंसे प्राणीकी आह, हृदयहीन जगत्का हार्द (भाव) है; वह आत्महीन परिस्थितियोंके आत्मा जैसा है। वह *जनताके लिये अफीम है।*[१]"

हेगेल्ने विज्ञानवादमें द्वन्द्वात्मकता (क्षणिकता) जोड़ नित्य एक-रस विज्ञान (ब्रह्म)की महिमाको कम कर दिया। उसके शिष्य फ्वेरबाखने "ईसाइयत-सार" लिख धर्मपर हमला शुरू किया—यद्यपि यह काफी सहृदयता लिये ही। दर्शनमें फ्वेरबाखके उत्तराधिकारी मार्क्सने सीधे तौरसे धर्मके किलेपर गोलाबारी शुरू की। धर्मके नकली मुलम्मेको खोलते हुए उसी लेखमें मार्क्स फिर लिखता है[२]—

---

[1] "On Hegels' Philosophy of Law" (Marx 1844)

[२] वहीं।

"धर्म एक भ्रमात्मक सूर्य है, जो कि मनुष्यके गिर्द तबतक घूमता रहता है, जबतक कि मनुष्य अपने [मनुष्यताके] गिर्द नहीं घूमता। इसलिए [नये जगत्की सृष्टि करनेवाले] इतिहासका यह काम है, कि परलोकके सत्यके लुप्त हो जानेपर इस जीवनके सत्यको स्थापित करे। ...इस तरह करनेसे *स्वर्गका खंडन* पृथ्वीके खंडनके रूपमें, धर्मका खंडन कानूनके खंडनके रूपमें, देववादका खंडन राजनीतिके खंडनके रूपमें बदल जाता है।"

खंडनके महत्व और सीमाको मार्क्स कथनी तकही रखना नहीं चाहता था, जैसाकि वह वहीं आगे लिखता है—[1]

"किसी तरह भी खंडनका हथियार हथियारों द्वारा होनेवाले खंडनका स्थान ग्रहण नहीं कर सकता। [हमें] भौतिक बलको उलटना होगा, किन्तु *सिद्धान्त स्वयं भौतिक बल बन जाता है, जब वह जनताको पकड़ लेता है।*......

"धर्मके खंडनका अन्तिम पाठ यह है, कि मानवजातिके लिये मानव सर्वश्रेष्ठ सत्त्व है-(अतएव) उन सभी परिस्थितियोंको खतमकर दिया जाय, जिन्होंने कि मानवको एक पतित, दास, उपेक्षित, घृणास्पद प्राणी (बना दिया) है।"

सभी देशोंका इतिहास, और भारतका खास तौरसे, इस बातका साक्षी है, कि धर्मसे बढ़कर मनुष्यको पतित, दास, उपेक्षित, घृणास्पद बनानेवाला दूसरा कारण नहीं हो सकता। भारतीय मानवताको छिन्न-भिन्न करनेमें सबसे जबर्दस्त हाथ धर्मका रहा है। कहा जाता है, धर्मका कोई कसूर नहीं, कसूर है स्वार्थी लोगोंका जो कि उसे अपने फायदेके लिए गलत तौरसे इस्तेमाल करते हैं। इसका मतलब यह हुआ, कि कोई ऐसा भी जमाना था, जब कि धर्मकी धरोहर रखनेवाले सिर्फ निः-

---

[1] वहीं

स्वार्थी व्यक्ति होते थे। लेकिन इसका पता इतिहाससे तो नहीं मिलता; ऋग्वेदके ऋषियोंसे लेकर अन्तिम ऋषि तुलसीदास तक चले आइये। बाबाके शब्दोंमें इतिहासका फैसला है—

"सुरनर मुनिकी येही रीती।
स्वारथ लाइ करहिं सब प्रीती।"

कितने ही लोग मनुष्यताके लक्षणके बारेमें कहते हैं—

"आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।"

[आहार, निद्रा, भय और मैथुन यह (चार बातें) पशुओं तथा मनुष्योंमें समान हैं। इनमें धर्मही (एक) अधिक विशेष है (और) जो धर्मसे हीन हैं, वह पशुओंके समान हैं।]

धर्म के ठीकेदारोंसे ऐसे ही शब्द सुननेकी आशा थी। किन्तु यह भी याद रखना चाहिये कि यह नारा सिर्फ भारतके हिन्दुओंका ही नहीं है। सारी दुनियाके धर्मवाले अ-धर्मवादियोंको पशु-पदवी देनेमें एकमत हैं। हाँ, लूटके मालको बाँटते वक्त आपसमें वह लड़ जरूर पड़ते हैं—एक धर्मका माननेवाला दूसरेको नास्तिक, काफिर कहता तथा दिलसे मानता है। यद्यपि दार्शनिक लोग सदियोंसे अपने मुवक्किलों—धर्मों—का इतने महान् अनिष्ट देख सर्वसमन्वयकी कोशिश करते आ रहे हैं, किन्तु धर्म आखिर जिन स्वार्थोंकी रक्षाके लिये बनाया गया है, वह जब एक हों तब न एकताकी बात चल सके। धर्मको मनुष्यका लक्षण माननेवालोंको जवाब देते हुए मार्क्सने कहा था—

"चेतना, धर्म या आप जिससे चाहें, उससे मानव-जातिका पशुओं-से भेद करें। लेकिन (मनुष्योंने) स्वयं पशुओंसे उसी वक्त अपना भेद

करना शुरू किया, जबकि उन्होंने अपने जीवन-निर्वाहके साधनोंको पैदा करना शुरू किया—अपनी शारीरिक बनावटके कारण उनका यह कदम उठाना आवश्यक था[1]"।

धर्म और ईश्वरके ख्यालको जन्मजात कहनेवाले कूपमंडूक ही हो सकते हैं। आज सभ्य मानवताका अधिकांश ईश्वरको नहीं मानता; अत्यंत प्राकृतिक अवस्थामें रहनेवाले गुहा-मानव भी अपने गुहा-चित्रोंमें किसी प्रकार-के धर्म-चिह्नको नहीं छोड़ गये हैं। धर्मका प्रारम्भ मानवके जीविकोत्पादनार्थ समाज बना लेने, तथा भाषाके कुछ विकसित हो जाने पर हुआ, और इसका पूरा विकास तो दासता-युग और सामन्त-युगके समय प्रभुवर्गने किया। वस्तुतः धर्मकी सारी कल्पना, उसके देवताओंका निर्माण उसी दासता तथा सामन्त-युगके मानव-समाजकी नकल है।

२. धर्मके नये व्याख्याकार

(१) *हिन्दू-धर्मकी विशेषता*—धर्मकी नई व्याख्या कोई नई बात नहीं है। धर्मात्माओंने "पंचोंकी बात सर-आँख पर रखकर भी अपना पनाला" वहीं रखा है, तो भी परिवर्तनशील दुनियाके साथ समन्वय करना भी जरूरी था, इसलिये नये व्याख्याकार जरूरी ठहरे; इसी बातको गीताके चालाक लेखकने इन शब्दोंमें अदा किया है—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।[2]

ये सारे नये व्याख्याकार—नई बोतलमें पुरानी शराब भरनेवाले मद्य-वणिक् (अथवा अफीम—अहि-फेन—व्यवसायी) यही काम करते

[1] German Ideology (by Marx and Engels)

[2] "जब-जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका अभ्युत्थान होता है, तब-तब मैं अपनेको सिर्जता हूँ।"

हैं, और बचपनमें दी गई मानव-समाजकी हथकड़ियों-बेड़ियोंको उसकी आयुके अनुसार बढ़ाते रहना। किन्तु अभी इसपर कुछ तै करनेके पहले चलिये काशीमें विराजनेवाले हिन्दू-धर्मके अभिनव व्यासके पास।— यह मानना पड़ेगा कि उक्त गीता-वाक्यके अनुसार वर्त्तमान समयमें सबसे जबर्दस्त बोतलफेरी—तुंबाफेरी—करनेवाले हिन्दू दो ही हैं, भक्ति जगत्में महात्मा मोहनदास कर्मचंद गाँधी (सेठ जमुनालाल बजाज लेन, सेवाग्राम) और दर्शन-मार्गमें सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् (संकटमोचनके पास, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी)। देखिये सर राधाकृष्णन् क्या फ़र्मा रहे हैं—

"हर एक जाति अपनी अपनी विशेषता, मानसिक भाव, अपनी खास बौद्धिक रुझान रखती है।"[1]

मशाल लेकर ढूंढिये तो पिछले हजार वर्षोंके इतिहासमें दुनियाकी और जातियोंसे भारतीय जातिमें क्या विशेषता पाई जाती है—आखिर "वृथा न होहिं देव-ऋषि-बानी", कृष्णके अवतार हमारे राधा+कृष्ण कोई बात अकल्याणकी नहीं कह सकते। और इस ढूंढ़नेमें आपको सफल होनेकी जबर्दस्त संभावना हो सकती है, यदि दुनियाकी और जातियोंके ज्ञानके बारेमें आप बिल्कुल कोरे हों। "विशेषता, मानसिक भाव, बौद्धिक रुझान", सावधान, इन शब्दोंको इन्हीं अर्थोंमें मनमें रखियेगा, आप्तोपदेश वेदके शब्द सभी रूढ़ि-अर्थवाले होते हैं, उन्हें उन्हीं अर्थोंमें लेना चाहिये जिनमें ऋषि महाशय लेते हैं। अथवा काहे इस फेरमें पड़ेंगे, "संशयात्मा विनश्यति"के डरसे यही समझ लीजिये कि "भारतीय दर्शन" के लेखक जैसा बहुश्रुत—हाँ, पुस्तक लिखते वक्त तक अभी वह सर और बहुदृष्ट नहीं हो पाये थे—लेखक क्यों गलत बोलने लगा; जब वह कहता है कि भारतीय दूसरी जातियोंसे इतना भेद रखते हैं, जितना कि अद्वैत

[1] Indian Philosophy vol I. 33

भोलानाथसे उनका नाँदिया ; फिर तो उसे सत्य वचन कह माथे चढ़ाना ही चाहिये ।

और उनकी बहुश्रुततामें आपको सन्देह कैसे हो सकता है, भारतकी महिमामें उनके मुँहसे उद्गार (उदान) निकला है[1]—

"गौतमकी तुलना है अरस्तूसे, कणादकी थेलसे, जैमिनिकी सुक्रातसे, व्यासकी अफलातूँसे, कपिलकी पिथागोरसे और पतंजलिकी ज़ेनोसे ।"

धन्य है भारतमाता, त्रैलोक्यजननी, त्रैलोक्य-दमनी, भगवान् राधा-कृष्णकी एकलौती सुपुत्री, जिसने दार्शनिकोंको पैदा करनेमें यूनानको मात कर दिया। बोलो "भारत माताकी जै"। लेकिन आप लोगोंके चेहरोंके देखनेसे दो तरहके भाव प्रकट हो रहे हैं । महामहोपाध्याय बालकृष्ण मिश्रकी शिष्य-मंडलीकी तो भौंहें तनी हुई हैं, और गुरुजीका ख्याल न हो, तो न जानें वह क्या कर गुजरें । उनका कहना है—इस ब्राह्मण-वंश-कलंकको तनिक भी लज्जा नहीं आई, जो सोलह कला-पूर्ण हमारे षट्शास्त्री ऋषियोंको इन गोभक्षक नीच म्लेच्छोंके बराबर बना रहा है । किन्तु आर्ट-कालेजके कितने ही छात्र बहुत खुश हैं—(१) पहिले वह हैं जिन्हें पूर्व या पच्छिमके किसी दार्शनिकसे कभी पाला नहीं पड़ा और भगवान्‌की कृपा बनी रही तो उनकी यह जीवन-नैया अछूती ही पार निकल जायेगी। (२) दूसरे वह जो माई वसन्तीके देवफाँफी-समाजकी मार खाये हुए हैं, उनके लिये महा तामिस्र चाहे पूर्वका हो या पच्छिमका, सब एक-बराबर है । ये सारे पूर्व पच्छिमके "महात्मा" (MAHATMA) गण तो हिमालयके उस पारवाले तिब्बतके टशील्हुन्पो मठके पास अवस्थित श्वेत-परिषद्[2]के अपने सदस्य हैं—उसी परिषद्‌के, जिसके कूट्हूमी और लालसिंह जैसे महात्मा सदस्योंका जयजयकार आज सातों महाद्वीपों और सातों जातियोंमें हो रहा है ।

---

[1] वहीं p 29 f. n. [2] White Lodge.

(३) तीसरे वह विद्यार्थी जो बेचारे साथियोंके डरके मारे गो-खुरके बराबर चुटिया नहीं रखने पाते। इनके कानमें काफी दिनोंसे भन-भन करके समझाया गया है कि चारों वेदोंको बिल्कुल कुरानकी तरह ही अल्हामके द्वारा अल्लाह मियाँ—नहीं नहीं, ओम् महाराज—ने अपने चार ऋषियों—अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा—के पास आजसे १ अरब ९५ करोड़ ५८ लाख ५० हजार ४३ वर्ष ३ मास…दिन…घंटे … मिनट …सेकंड…पहिले भेजा (नाजिल किया)। फिर हमारे वैदिक धर्मके सामने इस्लाम बपुरा कौन होता है? उसके पास एक कुरान है, हमारे पास चार कुरान (कुरानकी भाँति वेद मूर्ति-पूजा, और नाना देववादसे मुक्त हैं), उसके पास एक पैगम्बर मुहम्मद, हमारे पास चार पैगम्बर, कुरान १३ सौ वर्षसे दुनियामें आया, हमारे वेद दो अरब वर्ष पुराने—वे उस वक्त आये जब कि शायद पृथिवी भी अभी सूर्यसे बाहर नहीं आई थी। बेचारे ये "वैदिक धर्मकी जय"वाले छात्र सबसे ज्यादा खुश थे; क्योंकि ऋषि दयानन्दने सारी साइंस-विद्याओंको वेदसे निकालकर रख दिया था; किन्तु एक साध उनकी मनके माँह रही—सारे पश्चिमी दार्शनिकोंको वह भारतीय ऋषियोंके चरणोंमें नतमस्तक न कर सके थे। वह काम जिस महापुरुषने कर दिखाया, उसे ऋषि-महर्षि छोड़ दूसरा क्या कहा जा सकता है? (४) और अन्तमें उस छात्रवर्गकी "विशेषता, मानसिक भाव, अपनी खास बौद्धिक रुझान"की ओर भी एक नजर डालनी है, जो कि सर राधाकृष्णन्को अपना हाड़-मांस समझते हैं। वह अपने गुरुके इन सूत्ररूपी वाक्योंमें "गागरमें सागर"की कहावत चरितार्थ होते देखते हैं! आज ऋषियोंकी दूर-दर्शिताका उनके ऊपर जबर्दस्त सिक्का बैठ रहा है, ऐसा सिक्का जो कमसे कम सृष्टिके बाकी दो अरब वर्षों तक तो ब्रह्माके मिटानेसे भी मिटनेवाला नहीं है। व्यास (बादरायण)को अफलातूँके समकक्ष बनाना उन्हें भी कुछ खटकता जरूर है; किन्तु वह समझते हैं—गुरुके मुँहसे ये शब्द

खास अभिप्रायसे निकले हैं। साथ ही अफलातूनसी प्रतिभावाले व्यास बादरायण (जो सरासर गलत है। बादरायणमें अफलातूनकी दार्शनिक प्रतिभाका शतांश भी नहीं था, कहाँ मौलिक विचारक अफलातून और कहाँ उपनिषद्-कंथाधारी बादरायण !)की महिमा वह अब समझ सकते हैं; और जब कोई ब्रह्मसूत्रसे निकालकर वेदके पढ़ने और सुननेवाले शूद्रके जीभ छेदने तथा पिघले सीसे-लाखसे कान भरनेकी बात दिखलायेगा, तो वह चट कह सकते हैं कि निर्भ्रान्त ऋषि-ने किसी महान् अभिप्रायसे इसे लिखा होगा। और इस तुलनासे कमसे कम अठारह पुराणों, अठारह उपपुराणोंका दर्जा तो अफलातूनके "प्रजातंत्र"के बराबर हो ही जायेगा। एक बार अपने ऋषियोंको उनके बराबर "साबित" कर देनेपर अपनी कौनसी बात रहती है, जिसे "दिन-दोपहर" हम सभ्य संसारके सामने सिद्ध न कर दिखायेंगे। ऋषियोंने श्राद्धका विधान किया—हाँ ठीक, ब्राह्मणोंके पेटमें डाला अन्न मृतकोंके पास जाता है, वैसे ही जैसे तार, जैसे चिट्ठी। दुर्गाकुण्डके हनुमानों और ज्ञानवापीके नाँदियोंकी पूजा सर्वश्रेष्ठ मानवके लिये जरूरी है; क्योंकि इष्ट-स्वरूप बननेके लिये इष्टकी उपासना आवश्यक है। यमपुर-यात्रामें, क्या पता है, वैतरणीके अलावा काँटे (असिपत्र) बिछे-पथपर अकंटक वृक्षोंकी छाया भी पड़ी मिले। और पुण्यार्थ गंगा-स्नान तो हमारे ईसा-तुल्य आचार्य स्वयं करके पथप्रदर्शन कर रहे हैं। अजी ! क्या क्या नहीं है, जो हम इस सूत्रसे नहीं निकाल सकते—और भई ! भारतकी "विशेषता" कहकर तो आचार्यने कलमको लिखने लायक न रख छोड़ी। राम दुहाई ! इस शब्दमें जबर्दस्त विशेषता कूट कूटकर भरी हुई है।

जानते हैं भारतकी सबसे बड़ी विशेषता—जिसका दुनियाके पर्देपर कहीं पता नहीं लगेगा क्या है ?—वर्ण-व्यवस्था, जाति-भेद। यह भारतकी "अपनी खास बौद्धिक रुझान" है, जिस तक दुनियाके किसी दूसरे देशका बड़ेसे बड़ा मस्तिष्क भी आज तक नहीं पहुँचा, और यदि

भगवान्‌को अपनी अवतार-भूमिकी लाज रखनी है, तो इन्-शा-अल्लाह यह विशेषता यहाँसे बाहर नहीं जाने पायेगी।

देखिये कैसी सुंदर व्याख्या, कैसा नई बोतलमें पुरानी शराबका व्यापार !! आज राधाकृष्णन्-मार्काकी बोतलोंको आप राजपूतानाके राजाओंके महलोंमें गीताकी भाँति पूजी जाते देखेंगे। अजमेरसे अजमेरके निकला सारा राजकुमारवर्ग उसे गलेकी तावीज बनाकर रखना चाहता है। गाँधीने भी एक आँख बेकार कर सिर्फ एक आँखसे राजा-रंकोंको देखना चाहा था, किन्तु इन अकलके पुञ्जोंने अपने आदमीको नहीं पहिचाना। वह भड़क गये कि गाँधी हमेशा समाजके कोढ़ (दरिद्रता) को लोगोंको दिखलाता फिरता है, जो जेठकी दुपहरीमें बारूदके ढेरके नंगे करनेसे कम खतरनाक नहीं है। हीरा-मोतीकी झालर लटकानेवाली यह सारी गुड़ियाँ आखिर गुड़ियाँ ही रह गईं। यदि इनके दिमागमें जरा भी पीली मज्जा काम करती होती, तो समझ लेते कि समाजमें संरक्षक और संरक्षितका भेद "दार्शनिक" तौरसे कायम रखनेवाले गाँधीसे बढ़कर उनका हितैषी कोई नहीं हो सकता। सेठोंकी मोटी तोंदें चाहे ज्यादा चर्बीसे भले ही भरी हों, किन्तु उनके मस्तिष्कमें काफी मात्रामें पीली मज्जा है—उन्होंने गाँधीके गुरको समझा। आज वह खादी-फंड, गुड-फंड, गाँधी-सेवा-फंड, हिन्दुस्तानी-फंड, हरिजन-फंड···सभी फंडोमें अनंत दशाँशकी कुछ रुपल्लियोंको फेंकते राम-राज्य कर रहे हैं।

अजमेरके चहबच्चेके कुमार आज राधाकृष्णन्‌की व्याख्याको पढ़कर फूले नहीं समा रहे हैं। क्या दार्शनिक उड़ान है ! क्या ऋषि-जैसी क्रान्तदर्शिता (क्रान्तिदर्शिता नहीं, भगवान् उससे बचावे !) है !! भारत-की अपनी "विशेषता" ! "विशेषता" ! "अपनी अपनी विशेषता !!!" महामहोपाध्याय महिषासुरानंदजी ! आप कोरे भोंदा ही रह गये, "सर्बस खाइ भोग करि नाना। समर-भूमि" में कोइ काम नहीं आये। इस ब्राह्मणकी अक्लका हम लोहा मानते हैं। आज इसने हमारी जातिके

पुश्तोंसे खाये नमकका हक अदा कर दिया। यह भारतकी विशेषता ही है, जो कि हम सात सौ छत्रधारी यहाँ निरंकुश शासन कर रहे हैं। दुनियामें क्रान्तियोंका बाजार गर्म है; बड़े-बड़े भारी-भरकम ताज न्युयार्क-की हाटमें जाकर बिक गये; खुद हमारा सरताज सिर्फ एक अधेड़ छोकरीके साथ प्रेम दिखलानेके दंडमें दूधकी मक्खीकी तरह निकाल बाहर फेंक दिया गया। किन्तु, हमें देखिये, भारतकी छातीपर कोदो दल रहे हैं, एक-एक चुम्बन पर बीस-बीस लाखके चैक काट रहे हैं। किन्तु मजाल है कोई चूँ करे। अब समझा, यह सब भारतकी "अपनी विशेषता" का प्रताप है। इस विशेषताको हाथसे जाने नहीं देना होगा, जब तक यह विशेषता है, तब तक हम हैं। "जौ लौं गंग-जमुन-जल-धारा", तब तक इस विशेषताको कायम रखना है। आज यह विशेषता न होती, तो न जाने हम और हमारा रनिवास कहाँ होता ? हाँ, रनिवासकी बातका ख्यालकर एक और बात याद आ गई। अनव्याहे अष्टम एडवर्ड एक तिलाकशुदा स्त्रीसे शादी करना चाहते थे, जिसपर कन्टरबरीके शंकराचार्य-का आसन इतना गर्म हुआ, कि बेचारे एडवर्डको देश छोड़ भागना पड़ा। लेकिन भारतकी विशेषता देखो—हमारे रनिवासकी चंद्रमुखियोंको देखा है—अभी सिर्फ पंद्रहसे ही बाकायदा भाँवर फिरी है, इन्शाअल्लाह, इरादा है, प्रति वर्ष एककी संख्या जरूर बढ़ानेकी और बे-भाँवर ही। मैंने भी अपने दिवंगत नेताके कदमों पर चलना तै कर लिया है—अभी सिर्फ दस ही गोयन्दे अल्मोडासे काश्मीर तककी पहाड़ियोंमें सुंदरियोंको हेरनेके लिये छोड़ रखे हैं—मैं महसूस करता हूँ, यह संख्या बहुत कम है।—नित्य वही थाल, वही लोटा, वही गिलास, वही बोतल, वही शराब ! छीः छीः यह आदमीका जीवन है, या पशु का !! "गावः तृण-मिवारण्ये प्रार्थयामि नवां नवाम्।"[1] यह भारतकी "अपनी विशेषता"

[1] "जैसे गाय जंगलमें तिनकेको उसी तरह मैं नई-नइयोंको चाहता हूँ।"

है, जो कुमार-कालेजकी पढ़ाई, हरसाल विलायतकी यात्रा, चिकने घड़े पर पानीकी भाँति कोई असर नहीं रखती, और हम निष्कंटक अपने रनिवासको सुन्दरियोंकी प्रदर्शिनी बनाते चले जा रहे। कल दीवान साहेब-को कहना होगा कि दो लाखका चेक संकटमोचन भेज दिया जाये। "अंग्रेजी राज जिन्दाबाद" "भारतकी अपनी विशेषता जिन्दाबाद।"

हाँ, तो यूनानी और भारतीय दार्शनिक-ऋषियोंकी बात बीचमें ही रह गई—सिर्फ दोनोंकी शाब्दिक तुलनापर ही जो करतल-ध्वनि हुई, उसके मारे हम कहाँसे कहाँ बहक गये। आइये जरा तुलनाके भीतर चलें। इस भूल-भूलैयोंमें दूर तक जानेका अवसर नहीं है, इसपर हम दोनों सहमत हैं, और यह खुशीकी बात है। पहिले कालको लीजिये—

भारतीय	काल	यूनानी	काल
गौतम (अक्षपाद)	२५० ई०	अरस्तू	३८४-३२२ ई० पू०
कणाद	१५० ई०	थेल	६४०-५५० ई० पू०
जैमिनि	३०० ई०	सुक्रात	४६६-३६६ ई० पू०
व्यास (बादरायण)	३०० ई०	अफलातूँ	४२७-३४७ ई० पू०
कपिल	४०० ई० पू०	पिथागोर	५७०-५०० ई० पू०
पतंजलि	४०० ई०	ज़ेनो	३३६-२४६ ई० पू०

इस प्रकार कालकी समानतामें कपिल ही पिथागोरके नजदीक हैं; बाकी बेचारे भारतीय दार्शनिक अपने यूनानी तुल्य-कक्षोंके नरनाती भी होने लायक नहीं हैं। मेरे लिखे कालके बारेमें संदेह हो सकता है, और मैं भी उसे स्वीकार करता हूँ, कि कमसे कम भारतीय दार्शनिकोंके कालमें सुधारकी गुंजाइश है। आप इस विषयमें स्वयं कोशिश कर सकते हैं। यदि ऐतिहासिककी तुला लेकर आप वैसा करना चाहेंगे, तो मेरे बतलाये समयके ही पास पहुँचेंगे। किन्तु यदि आप तुले हुये हैं, भारतको सब विषयोंमें दुनियाका गुरु बनानेके लिये, तब तो आप पाँच

हजार वर्षसे कब पीछे उतरनेवाले होंगे, और फिर "अंधेके सामने रोना, अपना दीदा खोना" है। मैं इसका आग्रह नहीं करता, कि सर राधा-कृष्णन्ने तुलना करनेमें कालका विशेष ख्याल किया होगा; आखिर मैंने भी धर्मकीर्त्तिकी तुलना कान्ट-हेगेल्से की है, जो कि उनसे १२ सदियों पीछे हुये। अच्छा तो सिद्धान्तकी तुलना कीजिये।

यूनानी	सिद्धान्त	भारतीय	सिद्धान्त
१. थेल (६४०-५२५ ई० पू०)	पानी मूल तत्त्व	कणाद (१५० ई०)	परमाणुवाद सामान्य विशेष समवाय
२. पिथागोर (५७०-५०० ई० पू०)	गणित ब्रह्मवाद आकृतिवाद संख्या-ब्रह्म	कपिल (४०० ई० पू०)	अनीश्वरवाद प्रकृतिवाद
३. सुक्रात (४६६-६६६ ई० पू०)	रूढ़िवादविरोधी ज्ञानवाद देव-'वेद'-निन्दक	जैमिनि (३०० ई०)	घोर रूढ़िवाद कर्मवाद वेद-दास
४. अफलातूँ (४२७-३४७ ई० पू०)	अनेक-विज्ञानवाद बुद्धिसे ज्ञान मौलिक विचारक	व्यास (बादरायण ३०० ई०)	एक-ब्रह्मवाद ग्रंथसे ज्ञान उपनिषत्-समन्वय

यूनानी	सिद्धान्त	भारतीय	सिद्धान्त
५. अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०)	केवल तर्कवाद	गौतम अक्षपाद (२५० ई०)	शब्द और समाधि
	ईश्वर सृष्टिकारण		ईश्वर कर्मफल-कारण
	जीव एकदेशी		जीव सर्वव्यापक
६. ज़ेनो (स्तोइक) (३३६-२६४ ई०पू०)	तर्क काँटेकी बाड़ जैसा,	पतंजलि (४०० ई०)	
	वस्तुवाद		सिद्धि-समाधिवाद
	अद्वैत अन्तर्यामिवाद		द्वैतवाद
	अवयव-अवयवीवाद		

यदि ज़ेनोसे सर राधाकृष्णन्का अभिप्राय इस स्तोइक (संयमवादी) ज़ेनोसे नहीं, बल्कि एलियातिक ज़ेनों (४९०-४३० ई० पू०) से है, तो वह अद्वैतवादी था, जब कि पतंजलि द्वैतवादी।

इस प्रकार सर राधाकृष्णन्ने समकक्षता स्थापित करनेमें दोनों देशोंके दार्शनिकोंके काल और विचारकी पूरी अवहेलना की है। नामोंमें अनुप्रासका ख्याल किया हो, यह भी बात नहीं है। ज़ेनोको उन्होंने पतंजलिके जूएमें रखा है; हालाँकि अनुप्रास मिलानेके लिये ठीक था—"ज़ेनो-जैमिनि जोड़ी, एक अंधा एक कोढ़ी।"—स्तोइक (संयमी योगी) ज़ेनो को कोढ़ी कह लीजिये और ज्ञान-विरोधी घोर कर्मवादी जैमिनिको अंधा। हाँ, शायद दोनों देशोंके दार्शनिकोंकी शकलमें समानता हो सकती है, जिसके बारेमें मैं अपने भारी अज्ञानको स्वीकार करता हूँ; मुमकिन है, सर्वपल्लीके पास १ दर्जन फोटो अदियासे पहुँच गये हों।

(२) *धर्म सर्वोपरि*—सर राधाकृष्णन्‌को 'सारी' दुनिया भारतके महा दार्शनिकके तौरपर मान करती है। किन्तु, आक्सफोर्डमें एक छोटी-मोटी धर्मकी गद्दीपर बैठानेका निश्चय जब बृटिश पूँजीशाहीने किया, तो कुछ लोगोंको सन्देह हुआ कि दार्शनिकको धर्मकी गद्दी देना अन्याय है—यूरोपमें धर्मको दर्शनसे उसी तरह छोटे दर्जेका समझा जाता है, जिस तरह दर्शनको साइंससे। सर राधाकृष्णन्‌को भी, हो सकता है, बात खटकी हो। यह भी मुमकिन है अंग्रेजी थैलीशाहोंको भारतमें किसी भी दर्शनके होनेका पता ही न हो; या हो सकता है, उनकी खोपड़ीमें भर गया हो कि भारतीय दिमाग उनकी दी हुई पदवियों और टुकड़ोंके लिये सिर्फ दुम हिलाना जानता है। हमें अफसोस है, हमारे सेल्‌की इस छोटी कोठरीके आँगनके ऊपर जितना आसमान खुला हुआ है, उससे झाँकनेवाले चेहरोंमें ज़्यादातर ऐसे ही हैं। पूँजीशाहोंने चाहे किसी तरहसे भी हमारे-दार्शनिकको धर्म-चर्चाके लिये बुलाया हो; किन्तु वह हैं धर्म-चर्चा करने ही योग्य। इसके लिये हम अभी सबूत पेश करनेवाले हैं ; लेकिन उससे पहले एक और बात याद आ गई। कितने ही लोग—हाँ, भारतके अंग्रेजी शिक्षितोंमें ही—यह समझनेकी बहुत भारी गलती करते हैं कि सर राधाकृष्णन् जबर्दस्त दार्शनिक हैं। इस बातमें एक तरुण हिन्दी-लेखक बुरी तरहसे फँस गया। इस लेखककी कलम और प्रतिभा दोनों-की मैं दाद देता हूँ, भाषापर उसका अधिकार है। वह इतना साधन-सम्पन्न है कि भविष्यके लिये हम यदि उसपर ज्यादा आशा बाँधे, तो अनुचित न होगा। उसने दर्शनके इतिहासपर जो पुस्तक लिखी है, उसमें २३-२४ पृष्ठोंके अतिरिक्त, बाकी चार सौ पृष्ठ इतने अच्छे लिखे हैं कि उन्हें पढ़कर बड़ी खुशी हुई—वर्त्तमानको ही देखकर नहीं, भविष्यका भी ख्याल करके। लेकिन, वह २३-२४ पृष्ठ कैसे लिखे गये हैं, इसके बारेमें मैंने उसी पुस्तक पर नीली पेंसिलसे लिखा—"ग्रन्थका कलंक"। उन २३-२४ पृष्ठोंसे गुजरना मेरे लिये उतना ही मुश्किल हो गया, जितना

कि गोखरूके बयावानमें नंगे पैर आदमीके लिये चलना। और फिर यह भी ख्याल रखिये, पैरसे सिरकी पीड़ा ज्यादा दुस्सह होती है। आप समझते होंगे, मैं उस तरुण पर जल रहा हूँ। नहीं, मैं तो समझता हूँ, एक दिन उन पृष्ठोंको पढ़ते हुए उसे भी वैसी ही पीड़ा होगी—मैं आशा करता हूँ, तरुणने इस पुस्तकसे अपने दार्शनिक अध्ययनके जीवनका आरंभ किया है, और वह अपनेको अधिक साधन-सम्पन्न बनानेकी कोशिश करता रहेगा। जानते हैं वह पृष्ठ किस दर्शनपर हैं? बौद्ध दर्शन पर, और बौद्ध दर्शनके भी उस कालपर जो कि बौद्ध ही नहीं, भारतीय दर्शनका भी सुनहला काल है—यानी, नागार्जुन (१७५ ई०) से शान्तरक्षित (७४०-८४० ई०) तकका काल। भारतीय दर्शनमें जो बौद्ध दर्शनके भारी महत्त्वको नहीं समझता, उसे दर्शनको दूरसे प्रणाम कर लेना चाहिये। उस दर्शनको समझनेकी जो कोशिश नहीं करता, और भारतीय दर्शनपर पोथे लिखना चाहता है, उसके लिये क्या कहना चाहिये? मैं यह नहीं कहता कि उसे छोड़कर आपको कलम ही नहीं उठानी चाहिये; कलम उठाइये, किन्तु सारे भारतीय दर्शनको मत समेटनेकी कोशिश कीजिये। तरुणने जो गलती की वह अपने दोषसे नहीं, यह सबसे आश्चर्यकी बात है। मुझे उम्मीद है, यदि उसने स्वयं जो कुछ संस्कृतके मूल ग्रंथों और उद्धरणोंमें पढ़ा था, उतने ही पर इन २४ पृष्ठोंको लिख डाला होता, तो पुस्तकमें यह कलंक न आने पाता। किन्तु, अफसोस है, अंधा न होते भी उसने अपनी आँखें बंद कर लीं और दूसरे अंधेकी अंगुली पकड़ ली। आप खुद समझ सकते हैं, ऐसे आदमीकी क्या गति होनी चाहिये।

सर राधाकृष्णन्के "भारतीय दर्शन" के दोनों पोथों पर जगह-जगह बौद्ध-दर्शनसे कोरे होनेकी छापोंकी भरमार है। साथ ही मालूम होता है, लेखकके दिलसे "दैव राजा" का डर बिलकुल उठ गया था, और उसे ख्याल नहीं आया कि "कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथिवी।" मुझे

उम्मीद है यदि सर राधाकृष्णन्‌के दिलमें यह ख्याल आया होता, कि उनकी पुस्तक सिर्फ आजकी ही पीढ़ीके सामने नहीं जा रही है, बल्कि आगेवाली पीढ़ियोंके हाथमें भी उसकी कोई न कोई जिल्द पहुँच जायगी; तो फिर वह इस लीपा-पोती, इस दर्शनके विवरणके नामपर सत्यका नहीं, संप्रदाय और स्वार्थका प्रोपेगैंडा करनेकी कोशिश न करते।

लेकिन, एक बातमें मालूम होता है—हम दोनों एक ही मर्जके मरीज हैं। जैसे "ठोक-पीटकर वैद्यराज" बन मैंने दर्शन पर कलम फेरनी चाही है, वैसे ही राधाकृष्णन् भी फेरमें पड़ गये—फर्क इतना ही है कि मेरी नंगी अल्पज्ञता किसीको गढ़ेमें नहीं गिरा सकती, और जब तक हिन्दीके अधिकारी लेखक स्वयं इस तरफ ध्यान नहीं देते, तबतक यह पंक्तियाँ पाठकोंको कुछ बातोंके समझनेमें सहायता पहुँचा सकती हैं; किन्तु, सर राधाकृष्णन्‌की सर्वज्ञता कितनी खतरनाक है, इसका उदाहरण अभी वह तरुण लेखक आपकी आँखोंसे ओझल नहीं हो पाया है।

वस्तुतः, सेवाग्राम और संकटमोचनमें इतना भेद हम गलतीसे कर रहे थे; आक्सफोर्डवालोंने सही परख की; इसके सबूतके लिये पढ़िये—

"(चारों ओरसे) मार पड़ने पर बुद्धि भक्ति (की गोद) में शरण ले सकती है। उपनिषदोंके ऋषि पवित्र ज्ञानकी पाठशालाके महान् अध्यापक हैं। वह हमें ईश्वर और आत्मिक-जीवनके ज्ञानके बारेमें बतलाते हैं[1]।"

दो मोटी-मोटी जिल्दोंको लिखनेमें उनकी लेखनीने फजूल ही परिश्रम किया; असल तत्त्व तो इस एक पंक्तिमें है—"मार पड़ने पर बुद्धि भक्ति[2] में शरण ले सकती है।" संकटमोचनके बाबोंने ही अकलका ठीका थोड़े ही ले लिया है? काशीके दूसरे छोर पर भी एक अनपढ़ पंडित रहता था, जिसका कहना है—

"पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, हुआ न पंडित कोय।
ढाई अच्छर प्रेमका, पढ़े सो पंडित होय॥"

---

[1] Indian Philosophy vol. II. p. 19 [2] Faith.

राधाकृष्णन् यथा नाम तथा गुण भक्तिमार्गी हैं। ठीक संकट-मोचन-के पुराने बाबाके हम्-पियाला हम्-निवाला—गद्दी उसीको मिलती है, जो कि उसके लायक होता है।

आप गुस्सा होकर कहेंगे—तर्क-वितर्क छोड़िये; आपही बतलाइये, मार पड़ने पर बुद्धि कहाँ शरण लेने जाय? मैं कहूँगा—शरण लेना कायरोंका काम है, उसे जूझ मरना चाहिये। बुद्धिपर मार पड़ रही है, आगे बढ़नेके लिये; और जो बुद्धि ज्यादा अग्रसर है उसपर मार पड़ती भी नहीं। सिकरौलसे कितनी ही बार आप एक्केपर गये होंगे। आपही बताइये, मार किनपर पड़ती है?...आप नाम नहीं लेंगे, मैं भी नहीं लूँगा; किन्तु, यह बात साफ है कि तेज-रफ्तार बुद्धि पर कभी मार नहीं पड़ती, और न उसे किसीके पास शरण लेनेकी जरूरत होती है। वैसी बुद्धिके लिये प्रयोगका राजपथ सदा मौजूद है, इसे हम बतला आये हैं। रही, "पवित्र ज्ञान-पाठशाला"के महान् अध्यापकोंके ज्ञानकी बात। उसके बारेमें हम दूसरी जगह कह आये हैं[1]; जिसे यहाँ फिर दुहराना नहीं चाहते; हाँ, ऋषियोंके बारेमें अनन्त-निद्रा-विलीन अपने चिरसंगी जायसवालकी एक कथा जरूर याद आती है, जो आपकी सेवामें अर्पित है।—

सत्यव्रत सामाश्रमी कलकत्ताके संस्कृतके एक अच्छे पंडित थे—खासकर वेदकी संस्कृत (छन्दस्)में उनकी योग्यता बहुत ऊँची मानी जाती थी। गुरुकुल काँगड़ीवालोंने एक बार अपने जलसेमें उन्हें किसी परिषद्का सभापति बनाकर बुलाया। सामाश्रमीजीने वेदार्थपर स्वामी दयानन्द और 'निरुक्त' की प्रशंसा करते हुए एक सारगर्भित भाषण दिया। आर्य समाजके उस वक्तके टुटपुँजिये विद्वानोंपर उसका क्या प्रभाव पड़ा, यह तो नहीं कहा जा सकता; किन्तु, तीन तरुण संस्कृतज्ञोंपर उसका इतना असर पड़ा कि वह सामाश्रमीके गिर्द गुड़की मक्खी बन गये। सामाश्रमी अपनी वेदज्ञताको आर्य-समाजके वातावरणमें जिस

[1] "दर्शन-दिग्दर्शन"

तल तक पहुँचा चुके थे, उससे पीछे उतारना उनके लिये मुश्किल था। तलसे उतारनेका सवाल तो दूर, वहाँ 'हाँ' 'हाँ' में वह कुछ सीढ़ और ऊपर टँग गये। तीनों तरुणोंने आग्रहपूर्वक कहा—"गुरुजी इस ज्ञानको फैलाइये।"

—"फैलानेकी तो मुझे भी अत्यन्त इच्छा है। मैं भी आज कल चिन्तामें पड़ जाता हूँ, कि कहीं इतने परिश्रमसे उपार्जित यह वेद-विद्या मेरे साथ ही न चली जाय। लेकिन, अधिकारी शिष्य मिलें तब न?" ठीक उपनिषद्के ऋषियोंके स्वरमें इस बातको—शब्द नहीं, बात ही कहूँगा, क्योंकि वहाँ भाषण सारा संस्कृतमें हो रहा था—सुनकर तीनों शिष्य गद्गद हो गये, और उन्होंने सारी परीक्षायें दे, गुरुको अपनी सेवासे प्रसन्न कर, भगवती वेद-विद्याके ग्रहण करनेका पक्का इरादा प्रकट किया। सामाश्रमीजी तीनों नये रँगरूटोंको ले कलकत्ता पहुँचे। कुछ दिन-सप्ताह—तो ऐसे ही बात-चीत, सत्संग हीमें चले गये। फिर पढ़ाई शुरू हुई। आर्य-समाजी शिष्योंने समझा था कि गुरुजी ऐसी कुञ्जी बतलायेंगे, जिसमें यदि सारे साइंस वेदमें न झलकने लगें, तो कमसे कम जगह-जगह जो वेदोंमें इतिहास—देशों, नदियों, राजाओं, रानियों, ऋषियों, ऋषिकाओंके नाम तथा वृत्त—मिलते हैं, और जिनकी वजहसे वेदको दो अरब वर्ष पहले ले जाना सम्भव नहीं, इसका तो कोई समाधान निकल आयेगा। सामाश्रमीजी शिष्योंके अभिप्रायको समझते थे; इसलिये पहले बचते हुए उन्होंने पाठ पढ़ाना शुरू किया। किन्तु शिष्य कोई दुधमुँहे बच्चे न थे। अन्तमें उन्होंने यह कहकर पाठ कुछ दिनोंके लिये बंद रखा कि इस तरहके गहन वेदार्थके लिये गुरुको भी कुछ साधना करनी पड़ती है। एक दिन गुरुने तोंद खोले आसनपर पद्मासन मार शिष्योंका आवाहन किया। शिष्य प्रसन्न हो सामने आ मौजूद हुए। वेदार्थ शुरू हुआ। एक मंत्रपर पहुंचे, अर्थ कुछ इस तरहका हुआ, जिससे वेदकी अनित्यताका ही डर नहीं हो गया, बल्कि

वैदिक ऋषिके मुँहसे निकली ऊट-पटाँग बात पकड़ी गई। शिष्योंने बहस करते हुए कहा—"ऋषि होकर ऐसी गलत बात क्यों कही ?"

सामाश्रमीजीने चट अपनी तोंदपर हाथ फेरते हुए कहा—"इसीके लिये, उनके पास भी यह (पेट) मौजूद था।"

तीनों शिष्योंके दिलको भारी धक्का लगा, इसमें शक नहीं ; किन्तु सामाश्रमीजीकी बात सोलहों आना सच थी, इसमें राधाकृष्णन्को छोड़ किसीको भी सन्देह नहीं हो सकता। सामाश्रमीजीमें वह योग्यता थी, जिससे वह हारिद्रुमत गौतम, सत्यकाम जाबालकी पंक्तिमें जा जूठन गिरा सकते थे, जबकि राधाकृष्णन् गरीबसे वे ऋषि अपने जूतेका तस्मा भी नहीं खुलवाते।

३. धर्मसार

(१) *आत्मा और दिव्य शक्तिकी कल्पना*—धर्मका सार है, किसी अलौकिक शक्तिमें विश्वास। यह विश्वास या भक्ति किसी ऐसी एक शक्ति (ईश्वर)में भी हो सकती है, और अनेकोंमें भी ; वह भक्ति अधिक स्थूल —आरण्यक मानव जैसी—भी हो सकती है, और सर राधाकृष्णन् या गाँधीजीकी जैसी सत्य-शिव-सुन्दरसे अनुप्राणित भी। शक्ति, आत्मा, देवताका यह ख्याल न आस्मानसे टपका, न आत्माकी आवाज़से। इसकी उत्पत्तिका कारण उस समयके समाजका आर्थिक ढाँचा था, जिसमें कि वंश-गोत्रका महापितर (दादा) या महामाता (महामाई) जीवन-सामग्रीके उत्पादन, आत्मरक्षा तथा परलुंठनमें वंशका नेतृत्व करते थे। आरंभिक समाजमें जो श्रम-विभाग हुआ था : पत्थर, लकड़ी, हड्डीके हथियारोंकी सहायता प्राप्त होनेपर वैसा होना जरूरी थी। उस समय इस श्रमके संचालनके लिये जो व्यक्ति सबसे आगे था, वह वही हो सकता था, जो कि उत्पादक श्रम—जानवर, मछलीके शिकार, जाल बुनना, हथियार बनाना आदि—में सिद्धहस्त था; जो शासन, युद्ध-संचालन कर सकता था; जो परिवारके कामकी योजना आगेसे बना

उसे प्रायः सफल करा सकता था। ऐसे व्यक्तिका समाजमें सबसे ऊँचा स्थान होना जरूरी था ; क्योंकि वह उन वस्तुओंको पहले अपने दिमाग-में तैयार कर लिये होता था, जिन्हें कि दूसरे उसकी देखरेखमें सिर्फ साकार रूप देते थे।—वह विधाता था, दूसरे उसके आज्ञाकारी अनुचर। वह इच्छा करता था, और दूसरे उसकी इच्छाके अनुसार चलनेवाले। श्रमका यह सफल विभाग आदिम मानवोंके मनमें इतना गड़ गया था, कि हर जगह उन्हें यह रूप दिखलाई पड़ता था—आखिर आजकल हिन्दुओंके राम-नाम-बैंकको भी बनियोंने अपने कारबारके तजर्वेसे ही धर्म-खातेमें दाखिल किया है। और हम उन्हें एक वर्गके भीतर बहुत सफलतासे चलते भी देखते हैं। आदिम समाजके इस रूपने स्वयं मानव-को आत्मा और शरीर दो भागोंमें बाँटा—आत्मा शरीरका संचालक है, और इसीलिये वह शरीरसे श्रेष्ठ तथा उसका संरक्षक है। इसी ख्यालको लेकर माँण्डूक्य-उपनिषद् और गीतामें शरीरको रथ तथा आत्माको रथी (योद्धा)की उपमा दी गई है। अरस्तूने आत्माको स्वामी और शरीरको दासोंसे उपमा दी है—अरस्तूके समय यूनानमें स्त्री-पुरुषोंकी बेंच-खरीद आम थी, और दासोंका काम सिर्फ मालिककी आज्ञाको पालन करना, उसकी सेवा करना था।

जिस तरह श्रम-विभागके क्षेत्रसे लेकर चलते-फिरते काम करते शरीरके संचालनके लिये उससे पृथक् एक आत्माकी कल्पना की गई, उसी तरह उन्हें विश्वमें हरएक वस्तुके पीछे आत्मा दिखाई पड़ने लगा, जिसे कि उस वस्तुका आत्मा—अभिमानी देवता—कहा जाने लगा। वेदके देवता इसी प्रकारके अभिमानी देवता हैं; और वह सूर्य, चन्द्र, आकाश, द्युलोक, जल, थल सबमें अलग-अलग अपना आसन जमाये उनका संचालन कर रहे हैं। [यही आदिम-मानवकी कल्पना याज्ञवल्क्य (६०० ई० पू०) के सामने थी, जिसे कि उसने अलग-अलग अभिमानियोंको मिलाकर एक अन्तर्यामी ब्रह्मके रूपमें परिणत कर दिया]

उस समयके मानव-अथवा आज भी जो जातियाँ उस अवस्थामें हैं—के भीतर कोने-कोनेमें भूत-प्रेत देवताका विश्वास जो इतना ज्यादा पाया जाता है, उसकी वजह यही थी।—यह है वह कारण-सामग्री जिसने धर्म-को पैदा किया। महापितर या महामाताका ख्याल इस सबकी जड़में था। इसीलिये अलौकिक शक्तिकी कल्पना भी इन्हीं दो रूपोंमें की गई। मातृसत्ताक समाजके सबसे पुराने होनेसे मातादाईका धर्म ही सबसे पहिले अस्तित्वमें आया--जिसके कि प्रमाण सिन्धु, नील, दजला-फुरातकी उपत्यकाओंके प्राचीन धर्मोंमें बहुत ज्यादा पाये जाते हैं। हिन्दुओंकी काली-दुर्गा उसी मातृसत्ताक नमूनेपर बने धर्मके अवशेष हैं; ईसाइयोंमें माता मरियम्, महायान बौद्धोंमें तारा, जैनोंमें चक्रेश्वरी सभी आद्यामाता (मातृसत्ताक परिवारकी संचालिका माता)की प्रतीकें हैं।

मातृ-सत्ताक या पितृसत्ताक समाजमें जीते-जी जो नेतृत्व कर रहे थे, मरनेके बाद भूत-प्रेत-देवतासे भरे जगतमें, विशेषकर रातके अँधेरेमें, इन मृत नेताओंका "दर्शन" होना स्वाभाविक था। फिर उनके लिये चौतरे तथा बलिका प्रबंध लाजिमी ही था।—आखिर, जीवनमें जिस तरह वह गाढ़े वक्तमें काम आते थे; अपनी बुद्धिमत्ता, वत्सलतासे अपने बाल-गुपालोंको वह अब भी उतना ही फायदा पहुँचा सकते तथा पहुँचाना चाहते थे; जरूरत इतनी ही थी, कि जीवनमें उनके लिये जो प्रिय वस्तुयें थीं, अब भी वह उनके सामने बलिके तौर पर पेश की जायँ। महापितर और महामाताकी प्रेतात्माओं—दिव्यात्माओं—के साथ ही लोग उनके सहायकों—सेनाओं—को भूल नहीं सकते थे, आखिर मरनेके बाद भी तो यह दिव्यात्मायें अकेली सोम या सुरा पीनेमें आनंद अनुभव नहीं कर सकती थीं, न अकेली नाच-गा सकती थीं; फिर चाहे सन्तान-अनुसन्तान न भी पैदा करें, किन्तु संभोगके आनंदसे तो वह अपनेको वंचित न कर सकती थीं। इन सबके लिये पृथिवीपर मौजूद मानव-समाज-की एक पूरी नकल दिव्यात्मा-समाजके रूपमें तैयार की गई। हम पुराने

मिस्र, बाबुल, यूनान और भारतके ग्रन्थोंके पढ़नेसे जानते हैं, कि एक समय था, जब कि मनुष्य-लोककी भाँति देव-लोक भी पृथिवी पर ही—बल्कि उसके पड़ोसमें था, और अक्सर दोनों लोकोंके स्त्री-पुरुष वैसे ही आपसमें समागम करते थे, जैसे किसी दो कबीलोंके लोग। यही नहीं हर देशके पुराने वीरोंमें, महापुरुषोंमें, ऐसोंकी संख्या काफी पाते हैं, जो कि देव-कन्या या देव-पुत्रकी सन्तान थे। उस वक्त अभी मानवकी संख्या कम थी, पृथिवीका बहुत अधिक हिस्सा जंगल, गैर-आबाद और अज्ञात था; वहाँ दिव्यात्मायें भी वास कर सकती थीं, किन्तु जैसे-जैसे मनुष्यकी संख्या और ज्ञान बढ़ता गया, वैसे ही वैसे देवताओंको पृथिवी छोड़नेपर मजबूर होना पड़ा।

(२) *थ्योसोफी और सखी-समाज*—पिछली सदी तक तिब्बत दुनियाके सबसे अज्ञात देशोंमें था, इसीलिये देवफोंफीने वहाँ देवनगर बसाये, श्वेत-परिषदें[1] कायम कीं, दुनियाके लोगोंको वैयक्तिक तौरसे पथ-प्रदर्शन करनेवाले महात्माओंके लिये अनेक हेड-क्वार्टर या छावनियाँ छवाईं।—आपको यह सुनकर तअज्जुब होगा, मगर कितनेही शिक्षितों-ने मुझसे बड़ी गंभीरताके साथ पूछा था, कि इन देव-परिषदों और महात्माओंके बारेमें आपने तिब्बतवालोंसे क्या सुना? जब मैंने रोषको भीतर ही दबाकर कहा कि वहाँके लोगोंको इन देव-परिषदों तथा महात्माओंका कुछ भी पता नहीं है, तो एकाधने यहाँ तक कहनेकी धृष्टता की कि तब आप उस इलाकेमें नहीं गये होंगे। उन सज्जनोंको यह विश्वास दिलाना मुश्किल था कि मैं "महात्मा" कूट-हूमी (कोथूमी) और लालसिंहके केन्द्र तथा 'महाचोहान'के इलाके शि-गर्चे और टशील्हुन्पों-में अनेक बार पक्षों और महीनों तक रहा हूँ—यह वही जगह है, जहाँसे उक्त महात्मागणने सिन्नेट और दूसरे थ्योसोफिस्टोंको कितने ही पत्र और संदेश भेजे थे। एक शब्द देवफोंफी शब्दके बारेमें भी—थेव देवका ही

1 White Lodge.

यूनानी पर्याय है। सोफीको फोंफी कहनेवाला आपके मित्रोंमें कोई मिल जायगा, इस प्रकार आप समझ सकते हैं कि "साइंस-समाश्रित इस महान् धर्मका" यह नया नामकरण नहीं, बल्कि सिर्फ हिन्दीकरण मात्र है। मुझे उम्मीद है, थ्योसोफिस्ट सज्जन इसका प्रचार कर पुण्यके भागी बनेंगे। मैं उन आदमियोंमें हूँ, जो कि देवफोंफी समाजको धर्मका चरम उत्कर्ष मानते हैं। धर्मने यहाँ आकर अपनी पूर्णता प्राप्त की, धर्मके लिये इससे आगे बढ़नेके वास्ते अब एक सीढ़ी भी नहीं रह गई। कृष्ण-के "शब्दों" में धर्मके इस गाढ़े वक्तमें वह स्वयं इस समाजके रूपमें अवतीर्ण हुए।" इस समाजने अपने थोड़ेसे समयके जीवनमें जितने दिमागोंको "गुमराह" होनेसे बचाया, उतना किसीने नहीं किया होगा। और पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्खिनके धार्मिक विचारोंका जो गंगा-सागर-संगम इसने रचाया, उसे देखकर तो तबीयत अश्-अश् करने लग जाती है। सबसे बड़ी "सेवा" जो देवफोंफी समाजने की है, वह है देवताओं-को फिरसे मर्त्यलोकमें लाना ही नहीं, बल्कि उनका दर्शन कराना, उनका शब्द सुनाना, उनका गंध सुँघाना, उनका रस चखाना, उनका स्पर्श कराना।—देवगण बिलकुल इन्द्रियगोचर हैं, इसे उसने सैकड़ों देव-फोटो-चित्रोंसे साबित कर दिया। आज इस समाजके प्रतापसे आप देवताओं, दिव्यात्माओं, प्रेतात्माओंसे उसी तरह बातचीत कर सकते हैं, जैसे मुझसे। और फिर "नदिया एक घाट बहुतेरे" के महामंत्रको इसीने वस्तुतः पूरी तौरसे कार्य-रूपमें परिणत कर दिखाया।

(*सखी-समाज*)—सखी-समाजमें आप लोगोंको नाना भाँतिसे भगवत्-उपासना करते पायेंगे: कोई पुरुष होते भी अपनेको भगवान्की पत्नी समझता है, परिणीता नहीं तो रखेली होने पर भी वह सन्तोष करने-के लिये तैयार है। हर मास उसे मासिक धर्म होता है, और वह नियम-पूर्वक तीन दिन तक "कपड़ोते" रहता है। हर रात भगवानको "लेकर" सोता है, इस लालसासे कि भगवान् अपने जैसी एक मेघश्याम सन्तान

प्रदान करें ; किन्तु प्रकृति भगवान् तथा भक्तिनजीके काममें भारी बाधक है, और दोनों उसका कुछ कर नहीं सकते। इन "तरुणी" तथा "वृद्धा" "सखियों" के फोटोचित्रोंको देखकर आप अपनी आँखोंको तृप्त कर सकते हैं ; लेकिन अब जमाना फोटोका नहीं चल-चित्रोंका है, मैं देवफॉफीकी शाखा, इस सखी-समाज—जिसकी संख्या बिहारमें काफी है—से विनम्र प्रार्थना करूँगा कि समयकी गतिसे बढ़ें, और चल-चित्र—सिनेमा —द्वारा अपने ही प्रान्तकी नहीं अपने गुरुद्वारों—अयोध्या, वृन्दावन—की बड़ी बूढ़ी "सखियों" तथा उनकी "तरुण परिचारिकाओं" का भी उनके स्वाभाविक पोज़—भावभंगी—हाव-भाव-कटाक्ष—तथा स्त्रैण मृदुभाषणके साथ फिल्म उतरवायें। ऐसे फिल्मसे भारी लोक-कल्याण होगा। नवधा भक्तिका फौव्वारा घर-घरमें फूट निकलेगा, जिसमें डर इतना ही मालूम होता है, कि वास्तविक स्त्रियाँ कहीं कूयें में कूदकर आत्महत्या न कर डालें।

हाँ, मैं यहाँ इतना जरूर कहूँगा कि सखी-समाज देवफॉफी समाजका न अभिन्न अंग है, न उससे सम्बद्ध है, उसने परीक्षक विश्वविद्यालयोंकी भाँति उसे स्वीकृति भर दी है, किन्तु सैकड़ों सखी-समाजी देवफॉफीके सरगर्म सदस्य तथा नेता हैं, इससे वह इनकार नहीं कर सकती।

देवफॉफीका विस्तार सारी पृथिवीपर है, इसके विशाल साम्राज्यमें "सूर्य कभी नहीं उगता" की कहावत चरितार्थ होती है। उसके सारे सदस्य "आँखके अंधे गाँठके पूरे" नहीं हैं, और नहीं सभी चतुर शिरोमणि हैं, यह मैं मानता हूँ ; किन्तु उसके नटनागरों और•••की कलायें दर्शनीय होती हैं, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन, आप मुझसे आशा न रखिये कि मैं इन कलाविदों तथा उनके अड्डोंकी सैरके लिये आपका पथ-प्रदर्शक बनने जा रहा हूँ। एक वाक्यमें मैं कहना चाहता हूँ—कि देवफॉफीके रूपमें भगवान् धर्म अपनी सोलह कलामें अवतीर्ण हुए हैं।

(३) दुनियामें देव-कल्पना (i) बाबुल—एक जर्मन प्रोफेसर लिखता है— "(धार्मिक कल्पनायें) सामाजिक राजनीतिक कल्पनाओं तथा संस्थाओंके सिर्फ दर्पण(-प्रतिबिंब) मात्र हैं।"[1] प्राचीन बाबुलमें अनु, एनलिल्, एआ, सिन्, शम्श (सूर्य) आदि देवता पूजे जाते थे। इन बड़े देवताओंके साथ कितनी ही दिव्य-(इहीही) तथा भौम आत्मायें (अनुनाकी) भी थीं, जिस तरह हिन्दुओंमें बड़े देवताओंके साथ लाखों देव-परिवार, ग्राम-देवता और कुल-देवता। बाबुलमें जिस तरहका राजतंत्र उस वक्त प्रचलित था, उसीकी नकलपर देव-समाजमें भी राजतन्त्र कायम था। जैसे-जैसे बाबुलके पार्थिव मानव-समाजमें परिवर्तन होता गया, उसी तरह वहाँके देव-समाजमें भी परिवर्तन करना पड़ा। सामन्तोंमें जिस तरह बाबुलका महासामन्त या बादशाह प्रधान और सर्वशक्तिमान् माना जाता था, उसी तरह बाबुलका देवता मर्दुक सर्वशक्तिमान देवातिदेव बना। मर्दुक देवातिदेव बननेसे पहिले सुमेरीय जातिका जातीय देवता था, जिसे वे लोग वसन्तका अधिष्ठाता मानते थे। हम्मू-रब्बीके राजवंशने अपनी प्रधानताके समय मर्दुकको महा-देव बनाया। इससे पहिले एन्लिल् पृथिवी और आकाश (द्यावा पृथिवी)का स्वामी था, जिसे कि मर्दुकके लिये अपना सिंहासन छोड़ना पड़ा। एआ सृष्टिकर्त्ता (ब्रह्मा) था, उसका अधिकार मर्दकको कैसे दिलाया जाय, इसके लिये एक पौराणिक कथा गढ़ी गयी, जिसमें साबित किया गया कि सुमेरीय मर्दुक बाबुली एआका ज्येष्ट पुत्र है। राजाका पुत्र उत्तराधिकारी होता है। बाबुलकी राज्य-व्यवस्थाके पूर्णतया एक राजाके हाथमें आ जानेपर उसका प्रभाव वहांकी देव-मंडलीपर जो पड़ा, उसे ही हम मर्दुककी सर्वेश्वरता तथा सर्वदेवमयतामें देखते हैं। इसीलिये बाबुली पुराणमें मिलता है—"निनिब् बलका मर्दुक है, नेर्गल युद्ध का मर्दुक,

---

[1] Professor Achelis (Soziologie, in Sommlung Goschen, Leipzig, 1899 p. 85)

एनिल् प्रभुताका मर्दुक।" मर्दुककी निम्न स्तुतिको देखनेसे मालूम हो जायगा कि उसकी कल्पनामें बाबुलके राजाकी कितनी नकल है—

"ईश्वर, देवाओंके शासक[1] द्यावा-पृथिवीके अकेले महान् राजा! आपने पृथिवीको सिरजा, मंदिरोंकी प्रतिष्ठा की, और नामकरण किया। पिता! आप देवों मनुष्योंके जनक हैं....। महान् नेता! जिसकी रहस्यपूर्ण गहराईका पता किसी देवताको नहीं लगा।...पिता! (आप) सभी सत्त्वोंके स्रष्टा हैं।...शासक! आप ही हैं जो कि द्यावा-पृथिवीके भाग्य-के प्रेरक हैं, जिसका शासन अ-लंघ्य है, जो सर्दी गर्मी प्रदान करता है, प्राणियोंपर राज्य करता है। कौन देवता है आपके जैसा दूसरा? द्यु (नक्षत्र)-लोकमें कौन महान् है? सिर्फ आप ही। और पृथिवीमें कौन महान् है[2]? (आपही)। जब देवलोकमें आपका शब्द प्रतिध्वनित होता है, तो इहीही (सुरगण) धरती पर पड़ जाते हैं; जब वह पृथिवीपर प्रतिध्वनित होता है, तो अनुनाकी (भौम देव) धरतीको चूमते हैं।... ईश्वर! पृथिवी और देवलोकके तुम्हारे राज्यमें तुम्हारे भाई देवताओंके बीच कोई ऐसा नहीं है, जो कि तुम्हारे समान हो।"[3]

(ii) *यूनान*—पुराने यूनानियोंकी सारी शासन तथा समाज-संबंधी व्यवस्थायें एवं आचार-विचार उनके देवताओंमें मौजूद थे। जेउस् (द्यौः) देवताओंका देवपितर था, देमेतेर (द्विमातर?) कृषिकी देवी, हेर्मेस् व्यापारका देवता, और हेलियोस् (सूर्य) उदार व्यवसायोंका अधिष्ठाता था। ईसा-पूर्व पाँचवीं सदी अथेन्स (युनानकी प्रधान नगरी) के वैभवका मध्याह्न काल था, अथेन्स दुनियाके व्यापारकी रानी थी, और वहाँका शासन व्यापारियोंके प्रजातंत्रके हाथमें था, जिसमें स्त्री-पुरुषोंका क्रय-विक्रय कानूनन् विहित ही नहीं, बल्कि अथेन्सके वैभवका

---

[1] "प्राचीन प्राचीका इतिहास" (रूसीभाषा,) प्रोफेसर तुरायेफ् (जिल्द १ पृष्ठ १२७) [2] फारसीका शाह और संस्कृत शास एक ही शब्द है। [3] वहीं पृष्ठ १४४।

बहुत दारमदार दास-प्रथा पर था। इस ढाँचेको धारण करनेके लिये धर्मकी कितनी जरूरत थी, यह उस समयके कवि सोफोकल्की इस सम्मतिसे मालूम होगा, जिसके अनुसार "सारा जगत् ध्वस्त हो जायगा यदि धर्म उठ गया; क्योंकि सभी आचार और राज्य-संबंधी व्यवस्थायें देवताओंकी इच्छापर निर्भर हैं"[१] उस वक्तके शासनच्युत सामन्तवंशज तथा उनके अनुयायी यूनानकी तत्कालीन धर्म-व्यवस्थाका विरोध करते थे, क्योंकि इस विरोध द्वारा वह शासकवर्गका विरोध कर सकते थे। सुक्रात देवताओंका विरोध करके यही कसूर कर रहा था, जिसके लिये अथेन्सके व्यापारी शासकोंने उसे जहरका प्याला पीनेके लिये मजबूर किया।

(iii) *प्राचीन स्लाव*—रूसी, बुल्गार आदि जातियोंके पूर्वज—प्राचीन स्लाव लोगों—में देवकल्पना उनके अपने ही समाजकी प्रतिच्छायाके तौर-पर देखी जाती है। पितृपूजा, जातीय देवताओं, गृह-देवताओं, व्यवसाय-संबंधी देवताओंकी पूजा उनके धर्मका स्वरूप था। योद्धा और व्यापारियोंका इष्ट तथा बिजली(अशनि)का देवता पेरुन वैदिक इन्द्रकी भाँति बहुत ऊँचा स्थान रखता था। उनके देवलोकके सभी बँगले मृत-सामन्तों तथा उनके दर्बारियोंके लिये रिजर्व थे। वहाँ पृथिवीके सामन्त-प्रासादोंकी भाँति साधारण जनताको एक नजर झाँकनेका भी अधिकार न था। हिन्दुओंके पुराणों तथा दूसरे धर्म-ग्रंथोंमें भी जो देवलोक मिलता है, उसमें भी इस बातका पूरा ध्यान दिया गया है। पीछे स्लाव लोगोंके पुराने धर्मकी जगहको जब ईसाई-धर्मने लिया, जिसके प्रचारमें स्लाव-सामन्तोंने बहुत उत्साह दिखाया और जिसके फलस्वरूप वह और उनके वंशजोंने पीछे ज़ारकी शाहंशाहत कायम की। अब रूसी चर्च (धर्म) ने ज़ारके दर्बार पर ही अपनी देवावलीकी रचना की; जिसमें

---

[१] Geschiste des altertums (Edward Meyer) IV. p. 140 में उद्धृत।

ज़ार था ईश्वर, जारीना थी ईश्वरकी माता मरियम्, सन्त निकोला जैसे सिद्ध पुरुष ज़ारके दर्बारी और मंत्री···और सन्त मिखाईल (फरिश्ता) देव-सेनानी ज़ारका कमान्डर-इन-चीफ था। रूसी भाषामें ईश्वरको गॅस्पद कहते हैं, और स्वामी (सर्) को भी गॅस्पदिन् ; भगवान्को वॅग (संस्कृत, भग) कहते हैं और ऐश्वर्यको वॅगत्स्व। संस्कृत तथा हिन्दू देवशास्त्रके जाननेवालोंको इसके लिये आश्चर्य करनेकी जरूरत नहीं, क्योंकि वैदिक आर्योंके सबसे नजदीकके युरोपीय भाई-बंध यही प्राचीन स्लाव थे, जिनके ही वंशज आजके रूसी हैं। पाणिनिके वक्त (४००ई० पू०) ईश्वर शब्द राजाका वाचक था, गुप्तकाल(४००-६००ई०) में तो राजाकी उपाधियोंमें "परमेश्वर" आम तौरसे ताम्रपत्रों और शिलालेखोंमें उत्कीर्ण पाया जाता है। ऐश्वर्य (ईश्वरता) तो आज भी देवलोक और मनुष्य लोकमें उसी अर्थमें विराज रहा है; भगको ऐश्वर्यके अर्थमें हमने धातुपाठमें पढ़ा ही है।

आदिम मानव-समाजके देवता मांस-रुधिर खाते, सुरा पीते-नाचते गाते—सब कुछ मनुष्यकी तरह करते थे। यह ठीक भी है—"यदन्न' पुरुषो ह्यत्ति तदन्न' तस्य देवता।"[१] यदि वैदिक कालमें आर्य लोग गायको मारकर उसके मांसको आगमें "स्वाहा" "स्वाहा" करते थे, तो वह उस गायको जिलानेके अभिप्रायसे नहीं, बल्कि अपने आहारको देवताओंतक पहुँचानेके लिये। अस्तु, देवता खाने-पीने, नाचने गाने ही नहीं, सदाचार दुराचारमें भी मानवकी ही प्रतिकृति थे, और किसी जातिकी देव-गाथासे हम उसके तत्कालीन समाजका चित्र बहुत कुछ खींच सकते हैं। भारतमें इन्द्रके द्वारा गौतम ऋषिकी स्त्रीका सतीत्व-अपहरण एक प्रसिद्ध बात है, जिसमें जान पड़ता है, अहल्याका भी कुछ हाथ था, नहीं तो ऋषि उसे शाप न देते। इन्द्र हमारे लिये आज

---

[१]"जो भोजन पुरुष खाता है वही उसका देवता भी"।—ज़ातक १०६

विस्मृत-सा देवता है; इसलिये इस दुराचारको वह महत्त्व नहीं दिया जाता; किन्तु हमें स्मरण रहना चाहिये कि जिस समयकी यह बात है, उस समय इन्द्र सर्वोपरि देवता—देवातिदेव—था; विष्णु और शिव ही नहीं, ब्रह्माकी भी उस समय कोई पूछ नहीं थी। हमारे इन्द्रदेवता तो अहल्याके ही जार भर ही बनकर रह गये, किन्तु यूनानियोंके देव-पितर—जेउस्‌ने तो गजब ढाया। वह गनिमेदे नामक एक बालकपर मुग्ध हो, उसके साथ अप्राकृतिक व्यभिचार करता था। उस वक्तके यूनानी भद्र समाजमें यह रोग बहुत बढ़ा हुआ था, जिसके छींटेसे बेचारा जेउस् भी बच नहीं सका। आज भारतमें रामजी-कृष्णजीको भी वैसा बनानेकी चेष्टा, उसी दूषित मनोवृत्तिको प्रकट कर रही है।

व्यापारियोंकी प्रधानतामें देवशास्त्रमें एक कल्पनाका और आविष्कार हुआ; और यह है निराकार ईश्वर-कल्पना। इस कल्पनाके स्रोतको ढूँढ़ते हम सिक्केपर पहुँचते हैं। सिक्केके रूपमें एक सर्व-शक्तिमती सत्ता विराज रही है, जिससे मनोवांछित फल प्राप्त किया जा सकता है। इस टका-धर्मने आज राम-नामके बंक ही जारी नहीं किये; बल्कि खुद निराकार ईश्वरके ख्यालको दृढ़ करनेमें भी इसका सबसे बड़ा हाथ है।

(iv) *भारत*—भारतके धर्म तथा देवताओंका खास तौरसे जिक्र करनेकी जरूरत नहीं; क्योंकि उनकी कुछ बातें पहिले आगई हैं; सिर्फ देव-कल्पनामें परिवर्तन होनेके दो-एक दृष्टान्त दे देते हैं। बुद्धके वक्तमें राजतंत्र तथा प्रजातंत्र दोनों तरहके शासन मौजूद थे, जिनमें स्वयं प्रजातंत्रमें उत्पन्न तथा साम्यवादी जीवनके प्रशंसक होनेसे वह प्रजातंत्रवादके प्रति ज्यादा पक्षपात रखते थे। यह उस बातसे साफ हो जाती है, जो कि उन्होंने लिच्छवि प्रजातंत्रसे अनेक बार हारे, किन्तु फिरसे आक्रमणकी तैयारी करते मगधराज अजातशत्रुके मंत्रीके प्रश्नके उत्तरमें कही थी। यह वार्तालाप महापरिनिर्वाण-सूत्रमें मौजूद है। इसमें बुद्धने लिच्छवियोंको अपराजेय कहना चाहा है—हाँ, कुछ शर्तोंके साथ। मानव

समाज और देव-समाज एक दूसरेसे कितना सादृश्य रखते थे, यह बुद्धके इस वाक्यसे भी मालूम होता है, जिसे कि "दूरसे ही लिच्छवियोंको आते" देखकर उन्होंने कहा था—[1]

"अवलोकन करो, भिक्षुओ ! लिच्छवियोंकी परिषद्को। अवलोकन करो, भिक्षुओ ! लिच्छवियोंकी परिषद्को। भिक्षुओ ! लिच्छवि-परिषद्को त्रायस्त्रिंश (देव)-परिषद् समझो।"

उस वक्त लिच्छवि जिस भेष-भूषामें थे, उसके बारेमें वहीं कहा गया है—"सुन्दर यानोंपर आरूढ़...नीले=नीलवर्ण नीलवस्त्र नीलअलंकारवाले...पीले=पीतवर्ण पीतवस्त्र पीतअलंकारवाले...लाल=लोहित-वर्ण लोहितवस्त्र लोहितअलंकारवाले...श्वेत=श्वेतवर्ण श्वेतवस्त्र श्वेत-अलंकारवाले...।"[2]

हिन्दुओंमें इन्द्र, वरुण जैसे देवताओंके प्रभाव कम होनेका कारण सबसे बड़ा यह था कि इन देव-परिषदोंमें लोकतन्त्रता जरूरतसे ज्यादा थी, जिसके कारण हिन्दू निरंकुश शासक उसको पसंद नहीं कर सकते थे। पुरानी देवावली तथा पुराने प्रजातन्त्रोंके ध्वंसके बाद जब तीसरी-चौथी शताब्दी ईसवीमें भारशिव, गुप्त जैसे नये हिन्दू राजवंशोंके समय नये देवशास्त्रों—पुराणों—का निर्माण होने लगता है, तो बेचारे ऋग्वेद तथा कुछ तो उससे भी पहिलेसे चले आते देवता जाति-बहिष्कृत किये जाते हैं, और उनकी जगह शिव (भारशिवोंके इष्ट) और विष्णु (गुप्तोंके इष्ट) देव सर्वेसर्वा बना दिये जाते हैं। इस नई व्यवस्थाकी पुष्टिके लिये यहाँ भी वैसी ही कथायें गढ़ी जाती हैं, जिनका जिक्र हम बाबुलके मर्दुकके बारेमें कह आये हैं। हिन्दू-धर्मकी नींवमें यदि खोजकी खाइयाँ

---

[1] देखो, "दीघ-निकाय" (हिन्दी) पृष्ठ २१३ तथा "बुद्धचर्या" पृष्ठ ५२०-४७ [2] वहीं पृष्ठ ५३५

खोदकर देखें, तो वहाँ हमें बहुतसे देवता फोसीलके रूपमें मिलेंगे। इन देवताओंमें मणिभद्र यक्षकी करुण कहानी सुनकर किसके दिलमें चोट न पहुँचेगी। मणिभद्र बुद्धकालीन उत्तरी भारतके अत्यन्त प्रतापी देवताओंमें था। अभी उस समय (५०० ई० पू०) तक शिव और विष्णु किसी गिनतीमें न थे। दक्षिणी युक्त-प्रान्तमें ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दीकी एक पाषाण-मूर्तिका आसन मिला है, जिसपर भगवान् मणिभद्रका नाम खुदा है। फिर दण्डी (६०० ई०)ने दशकुमार-चरितमें मणिभद्र यक्षकी कन्याका जिक्र किया है—यक्ष कहनेसे नाक-भौं न सिकोड़िये, पालीमें इन्द्रको भी यक्ष कहा है, और उससे पहिले उपनिषद्‌में भी यक्ष उसी अर्थमें व्यवहृत होता था। सबसे पीछे मणिभद्र-का नाम नवीं-दसवीं सदीमें कलिंजरके राजाओंके समयमें लिखे नाटकों-में मिलता है। दसवीं सदीके बाद भारतमें तो मणिभद्रका पता नहीं मिलता ; हालाँकि ल्हासा (तिब्बत)में मैंने साधुनियोंको गृहस्थोंकी रक्षाके लिये मणिभद्रकी गुहार करते देखा है।[1]

(४) *पूर्व और पच्छिममें धार्मिक प्रतिक्रिया*—कितने ही भारतीय इस गलतीमें हैं कि उनका ही देश एक मात्र धर्मप्राण है, और यूरोप सारा नास्तिक हो गया है—इस गलत धारणाको किपलिङ् और सर राधाकृष्णन् जैसे लेखक मजबूत करते हैं। सर राधाकृष्णन्का कहना है—[2]

"पश्चिमी सभ्यताकी मुख्य प्रवृत्ति है मानव और ईश्वरके बीच विरोध—वहाँ मानव ईश्वरकी प्रभुतासे मुकाबिला करता है, मानवताके लाभके लिये उसी ईश्वरसे *अग्नि* [शक्ति] चुराता है। भारतमें मानव भगवान्‌की उपज है।"

---

[1] दीर्घनिकायके "आटानाटिय-सुत्त"में ऐसे बहुतसे देवता मिलेंगे, जो बुद्धके समयमें जीवित थे ; किन्तु आज मर गये, या निर्वासित हैं।

[2] Indian Philosophy. Vol. II Pt. 41.

मानवकी उपज भगवान् है, यह मुँहसे तब न निकलता, जब कि पूरे वेदान्ती होते। दो नावोंपर चढ़ना इसीको कहते हैं। खैर, आगे सुनिये—

"भारतीय संस्कृति तथा सभ्यताकी सफलताका रहस्य है (उसका) अनुदारात्मक उदारवाद।"[१]

भारतीय सभ्यता और संस्कृतिने हिन्दुओंमेंसे एक-तिहाईको अछूत बनानेमें किस तरह सफलता पाई? किस तरह जाति-भेदको ब्रह्माके मुखसे निकली व्यवस्थापर आधारित कर जातीय एकताको कभी बनने नहीं दिया? किस तरह "सर्वश्रेष्ठ मानवको कपिला गाय और वानर हनूमान्" के सामने घुटने टेकनेके लिये तैयार किया? किस तरह पाप दूर करने-के नामपर गोबर और गोमूत्र पिलाये? किस तरह पेशाब-पाखाना तकको भक्ष्य बना सिद्ध बननेका रास्ता साफ किया? किस तरह अपनी आधी संख्या—स्त्रियों—को मनुष्यके प्रारम्भिक अधिकारोंसे भी वंचित कर उन्हें पुरुषोंके पैरोंकी जूती बनाया? किस तरह चौदहसौ वर्षोंतक सतीत्वके नामपर करोड़ों-करोड़ तरुण जीवनोंको आगमें जलाया? किस तरह सत्तर वर्षके बूढ़ोंको भी कलकी बच्चीसे शादी करनेकी खुली इजाजत दे, पाँच वर्षकी विधवाको आजन्म वैधव्य पालन करना मनवाके छोड़ा? किस तरह उच्च जातिवालोंके घर-घरमें बीसवीं सदीके बहुत पहलेसे गर्भ-स्राव तथा सन्तति-निग्रहका अद्भुत पाठ पढ़ाया? और किस तरह यह सब कुछ देखते भी मानवको "टुकटुक् दीदम् दम् न कशीदम्" के मोहन-मंत्रमें फँसा रखा? किस तरह जाति—बहुजातिक जाति—की जातिको ऐसे लेपसे लेपा, कि सभी बाहरी लेपके देखनेमें मगन हैं, कोई भीतर-की घनी कालिमाको देखना नहीं चाहता? किस तरह उसने सदा-

[१] The Consevative liberalism—वहीं p. 46.

चार दुराचारका इतना "वैज्ञानिक" विभाग किया, कि दोनोंकी सीमायें एक दूसरेसे मिलने नहीं पातीं ?

यह सब "अनुदारात्मक उदारवादसे" है और इसलिये कि "भारतमें मानव भगवान्‌की उपज है"।

यह हम मानते हैं कि सर राधाकृष्णन् जैसे भक्तों और दार्शनिकोंने शताब्दियोंसे भारतकी ऐसी रेड़ मारी है, कि वह जिन्दासे मुर्दा ज्यादा है। उनके सम-व्यवसायियोंको इस सीमातक पश्चिममें सफलता नहीं हुई, जिससे क्रान्तियाँ बीच-बीचमें आकर सफल होती रहीं, और आजका यूरोप जहाँ दासता, तथा सामन्तवादसे आगे पूँजीवादसे भी निकलकर समाजवादमें जा चुका है या जानेकी तैयारी कर रहा है, वहाँ भारतकी सातसौ गुड़ियाँ करोड़ों सजीव आदमियोंपर निरंकुश शासन जमाये रखनेका मंसूबा बाँध रही हैं, और हिन्दू भक्तों तथा दार्शनिक उनका नान्दी पढ़ रहे हैं। इतना होते भी यह समझना गलत होगा कि यूरोप ऐसे भक्तोंसे खाली है।

(ईश्वर)—ईश्वरके ही विचारको ले लीजिये, इतिहासकी प्रगति जिस तरह गलती करते करते आगे बढ़ती है, उससे साफ है कि विश्वके पीछे कोई अतिमानुष चेतन शक्ति नहीं, जो कि एक खास योजनाके अनुसार विश्वको एक खास रास्तेपर ले जाती है। भले इस दूसरे विश्व-युद्धके तीसरे वर्षमें धर्माचार्य लोग धर्मके प्रोपेगंडाका मौका देखकर जब तब प्रार्थना-दिन मुकर्रर करते रहें, किन्तु जिस तरहकी मारकाट आज मची हुई है, वह किसी भी सहृदय सर्वशक्तिमान् ईश्वरके जीवित रहते नहीं हो सकती। युद्धमें जो कुछ बीत रहा है, उसे देखते रहनेवाला ईश्वर या तो नितान्त क्रूर है, अथवा बेबस ; और ऐसे ईश्वरको मानने, उसकी स्तुति करनेसे उसकी ओर मुँह भी न फेरना अच्छा है।

वस्तुतः, जैसा कि पहिले बतला चुके हैं, विश्व विरोधिसमागमसे गुणात्मक-परिवर्तन-द्वारा पहिलेसे अनिश्चित दिशाकी ओर बढ़ता जा

रहा है। इस परिवर्तनमें मनुष्यका भी भाग है, जो कि अपनी चेतना अपनी क्रिया शक्तिका इस्तेमाल करता विश्व-विकासमें सहायक बनता, तथा कितनी ही दूर तक कारण-सामग्री पर नियंत्रण करनेमें सफल होता, उसके अनुसार परिणामकी दिशा तथा प्रायिकताको अपने अनुकूल रखनेमें सफल होता है। मानव एक समय ईश्वरके ख्यालसे इतना प्रभावित हुआ था, कि सब-कुछ ईश्वरके हाथमें सौंप देना ही उसे ज्यादा बुद्धिमत्ताकी बात मालूम होती थी। लेकिन जब तर्क और बुद्धिकी मार पड़ी, तो भारतकी भाँति मध्यकालीन यूरोप या भारतके ये तार्किक हरएक कार्यके पीछे एक कारणको ढूँढते, और कारणोंकी बे-अन्त परंपराको माननेकी जगह वह परम-कारण—ईश्वर—पर जाकर रुक जाते थे। यदि कोई उसके पीछे भी कारणको पूछता, तो गार्गीको जैसे याज्ञवल्क्यने ऐसे प्रश्न पर सिर गिर जानेकी धमकी देकर रोका, उस तरहकी तो नहीं, किन्तु कोई वैसा ही तार्किक बहाना जरूर ढूँढ़ लेते थे। लेकिन हमने पहिले बतलाया, कि कोई कार्य सिर्फ एक कारणसे नहीं होता, बल्कि उसके पीछे कारण-सामग्री (कारण-समुदाय) रहता है, ऐसी अवस्थामें कार्य-कारण नियमसे किसी एक कारण पर नहीं, बल्कि कारण-सामग्री पर पहुँच सकते हैं ; फिर ईश्वरके सिद्ध होनेकी कहाँ सम्भावना है ?

करनी-कथनीके एक होनेकी बात हम पहिले कह आये हैं। दुनियामें ऐसे विद्वान् काफी मिलेंगे जो ज्ञानमें पंडित हैं, किन्तु उनकी करनी—सब नहींतो कितने ही—का ज्ञानसे कोई संबंध नहीं। मेरे मित्र डा० का० प्र० जायसवाल बड़े ही गम्भीरप्रज्ञ थे, और इतिहासके तत्त्वदर्शी होनेसे ईश्वर पर उनका विश्वास नहीं रह गया था ; किन्तु फलित ज्योतिष पर उनका पूरा विश्वास था, और ज्योतिषियोंका उनके यहाँ बहुत मान था। बात करने पर वह मानते थे कि एक समाजवादी समाजमें—जहाँ कि बाल-बच्चोंकी शिक्षा या ब्याह तथा अपने या स्त्रीको बेकार-बीमार होनेकी दयनीय-दशामें नहीं पड़ना है—फलित-ज्योतिषकी पूछ जाती रहेगी।

जायसवालजीकी एक ओर वह तार्किक स्वतन्त्र प्रतिभा जिसने कितनी ही इतिहासकी उलझी गुत्थियोंको सुलझाया, वही इस फलित ज्योतिषके बारे- इतना कच्चा निकला; यह देखकर काफी सावधान रहनेकी जरूरत है। वर्तमान शताब्दीके शुरूमें मौजूदा फ्रान्सका प्रसिद्ध गणितज्ञ एमिल फ्लिमोरियन भी हस्तरेखा आदि मिथ्याविश्वासोंका शिकार था। और साइंसके नोबेल पुरस्कार विजेता सर आलिवर लॉज पुत्र-वियोगसे इतने परेशान हुए कि प्रेत-विद्या—मृतात्माओंसे बातचीत करने—के फन्देमें गड़ाप होनेसे बाज नहीं आये। यही हालत पाली-बौद्धधर्मकी प्रसिद्ध पंडिता मिसेज रीस्डेविस् की हुई,—पिछले युद्धमें उनका लड़का मारा गया, जिसपर वह प्रेत-विद्याके पीछे इतना पड़ीं कि अपने विद्या-सम्बन्धी कार्यों और पुरानी पुस्तकोंके सम्पादन तकमें प्रेतोंकी सहायता लेनेसे बाज नहीं आईं।

एक तरफकी पंडिताई और दूसरी तरफ चिराग तले अंधेरेके ऐसे उदाहरण सैकड़ों बतलाये जा सकते हैं। गुरुत्वाकर्षणका आविष्कारक सर आइजक न्यूटन (१६४२–१७२७ ई०) एक युग-प्रवर्त्तक विद्वान् था, इसमें सन्देह नहीं; गणित तथा यंत्र-शास्त्रकी पंडिताईसे वह गुरुत्वा-कर्षण सिद्धान्त पर पहुँचा। न्यूटन अपनी विद्यासे एक ओर विश्वके नियमोंको समझाकर मनुष्यको अपना मालिक बनाना चाहता था, वही न्यूटन दूसरी ओर बाइबलके पैगम्बर दानियलकी भविष्यद्वाणियों पर भारी मत्था-पच्ची कर रहा था कि कब वह भविष्यद्वाणियाँ पूरी होने जा रही हैं।

दुनियामें ऐसे विरोधि-समागमोंको देखकर हमें कितना सावधान रहनेकी जरूरत है, इसे आप खुद समझ सकते हैं; खासकर ऐसे आद-मियोंसे जो कालेज और प्रयोगशालामें तो होश-हवास-दुरुस्तसे मालूम होते हैं, किन्तु जो शुक्र, रवि या सोमके—सोमवार काशी विश्वनाथकी पूजाका दिन है—दौरेमें न जाने क्या कर दें, इसका ठिकाना नहीं

है। ऐसे लोग एक पैरमें तो बीसवीं सदीमें हैं, किन्तु उनका दूसरा पैर बीते युगमें अब भी अपनेको स्थिर समझता है। यह लोग नहीं समझते, कि अतीतके मूढ़ विश्वासोंका समर्थन कर वह उस समाजका समर्थन कर रहे हैं, जिसका अवशेष अब भी बहुत काफी परिमाणमें भारतमें है, और उसकी वजहसे भारतीयोंकी भारी संख्या शोषण, परतन्त्रता तथा सामाजिक पिछड़ेपनके दलदलमें फँसकर मनुष्यताकी अधिकारिणी नहीं रह गई। इंगलैंडके नई पीढ़ीके एक प्रतिभाशाली प्रोफेसरका कहना है।[1]—

"वैज्ञानिक विचारोंके (कुछ) नेता [हैं], जो कि ऐसे वैज्ञानिक साधन पैदा कर रहे हैं. जिनकी सहायतासे ऐसा समाज तैयार किया जा सकता है, जिसमें आखिरकार, मानव प्रकृतिको समझके साथ बौद्धिक तरीकेसे इस्तेमालकर [बेहतर दुनिया बना] सकता है—[किन्तु वह ऐसा न कर उससे उलटे पथपर ले जानेके लिये हैं], साइंससे पहिलेवाले युगके दर्शनके शब्दोंमें यह करनेके लिये उतावले हैं, कि सभी (जग) झूठी माया है, अ-बुद्धिही विजयी है, प्रकृतिका मूलाधार अ-वास्तविकता है। साइंस जगत्में उनका जो महत्वपूर्ण स्थान है, उसकी सहायतासे हमें विश्वास दिलाना चाहते हैं, कि जगत् एक गणितात्मक ईश्वरके मनमें अ-बुद्धि-तत्व [माया] की प्रतीक मात्र है। हमलोगोंमेंसे जो सामाजिक [कर्त्तव्यकी] चेतना रखनेवाले लोग हैं, और जो मानवकी साइंस-संबंधी सफलताओंके द्वारा दरिद्रताकी वास्तविक तथा साकार यातनाओं, बेकारी, तथा विश्वव्यापी युद्धकी तैयारीको दूर करनेकी आशा रखते हैं, उनके लिये [बूढ़े साइंस-वेत्ताओंकी यह हर्कतें] असह्य थीं; और इस ललकारकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी।"

सर राधाकृष्णन् जैसे लोग भी भारतमें शोषणके पोषणके लिये वही काम कर रहे हैं, जो कि इंगलैंडमें वहाँके शोषक प्रभुवर्गके स्वार्थों-

[1] A Philosophy for A Modern Man (by H. Levy. Gollancz, London, 1938) p. 165.

की रक्षामें सर आर्थर एडिंगटन जैसे वैज्ञानिकोंका रहा है, और पूर्व-पश्चिम दोनोंके इस तरहके लोगोंके सामने यूनानी कवि सोफोकल (ई० पू० पाँचवीं सदी) के ये वाक्य सदा रहने चाहिये—"सारा जगत् ध्वस्त हो जायेगा, यदि धर्म उठ गया ; क्योंकि आचार और राज्य-संबंधी व्यवस्थायें देवताओंकी इच्छापर निर्भर है।"

(५) *जीव अजर-अमर*—जीव शरीरसे अलग एक अजर-अमर तत्त्व है, इस कल्पनाको भारतमें बहुतसे लोग स्वयंसिद्ध समझते हैं। आरण्यक पुरुष तथा बौद्धिक विकासमें पिछड़ी जातियाँ जीवको शरीरसे भिन्न नहीं समझतीं। तिब्बतके खानाबदोशों तथा मध्यप्रदेशके जंगलवासियोंके फोटो लेनेका जिनको तजर्बा है, वह बतलायेंगे कि फोटो 'देने' के लिये ये लोग राजी नहीं होते। उनका ख्याल है, फोटो जो बिल्कुल शरीर जैसा होता है, उसमें अपने शरीर (आत्मा) का कुछ भाग जरूर चला जाता है, जिससे आयु कम हो जाती है। जीवके अजर-अमर होनेका ख्याल सबसे पहिले प्राचीन मिस्रमें दिखलाई पड़ता है, जिसका यह मतलब नहीं कि और जगह दूसरी जातियोंमें यह ख्याल मिस्र हीसे गया।—वैसी परिस्थितियोंमें दूसरी जगह भी वह ख्याल पैदा हो सकता है। मिस्रमें भी राजाओंसे इसका आरम्भ मालूम होता है। फर्वा (मिस्री राजा) के शवोंको सुरक्षित रखनेके लिये जितना आयोजन मिस्रमें किया गया, उतना कहीं भी नहीं देखा जाता। मृत शरीरको सड़नेसे बचानेके लिये मिस्रियोंने ऐसे मसाले ढूँढ़ निकाले, जिनकी वजहसे चार-चार हजार वर्षकी सुरक्षित मम्मियाँ (शव) वहाँसे मिली हैं। शवोंके रखनेके लिये उन्होंने चौपहलू शृंगवाले वे विशाल पाषाण पिरामिड बनाये, जो आज भी दुनियाके आश्चर्योंमें गिने जाते हैं। इन पिरामिडोंके बनानेके लिये देशकी सम्पत्ति या श्रमका सबसे बड़ा भाग खर्च किया जाता था। इनके लिये दास-दासियों तथा साधारण प्रजाको किस तरहका जीवन बिताना पड़ता रहा होगा,

इसे आप खुद अनुमान कर सकते हैं। पुराने मिस्री अभी आत्माको पूरी तौरपर शरीरसे अलग नहीं कर पाये थे, इसलिये उन्हें जहाँ का (जीव), उसकी छाया तथा नामको अजर-अमर करनेकी फिक्र थी, वहाँ शरीरको भी सुरक्षित रखना पड़ता था।

प्राचीन यूरोपीय तथा हिन्दुओंको आत्माके शरीरसे अलग होने पर ज्यादा विश्वास हुआ, इसलिये उन्होंने शरीरको बेकार समझ उसे जला डालनेकी प्रथा जारी की ; किन्तु बहुत पुराने जमानेमें इसका आरम्भ भूनकर खानेमें भी हो सकता है। बिना मसालेवाले शवको कब्रमें दबानेवाली जातियाँ इस विचारसे प्रेरित हुईं, कि कयामतके दिन सड़-गल गये मुर्दे भी जिन्दा हो उठेंगे।

अफलातूँ आत्माके तीन भाग मानता था— (१) बौद्धिक भाग जिसका प्राकट्य बुद्धि है, (२) आध्यात्मिक भाग, जिसका प्राकट्य बहादुरी, हिम्मत आदि है, जिनसे बुद्धिका संबंध नहीं ; (३) औदारिक या स्थूल भाग—लोभ, द्वेष आदिका संबंध इस भागसे है। अफलातूँने इन तीनों आत्म-भागोंकी क्रमशः मानव, सिंह तथा बहुशीर्ष राक्षससे उपमा दी है।

अफलातूँके समय (४२७-३४७ ई० पू०)के आसपास ही माण्डूक्य-उपनिषद् लिखते वक्त उसके कर्त्ताने भी जीवके तीन स्वरूप माने— (१) जाग्रत अवस्थामें स्थूल आहार करनेवाला वैश्वानर ; (२) स्वप्न अवस्थामें तैजस, और (३) सुषुप्त (गाढ़ निद्रा)-अवस्थामें आनन्द-भोजी प्राज्ञ।

फ्रॉइडने भी अफलातूँसे प्रभावित हो आत्माके तीन रूप बतलाये हैं—(१) इड् अबौद्धिक बेहोशसा आत्मा, जिसका सम्बन्ध शारीरिक तृष्णा या भोग-लिप्सासे है; (२) इगो (अहं) या आत्माका पूर्णतया सचेतन अंश, जो कि बहुत कुछ बुद्धि-युक्त है ; यही शरीर और बाहरी

जगत्से सम्बन्ध कराता है ; (३) परम-इगो (परम-अहंकार), जो कि बहुत कुछ निश् (-क्रिय) चेतन अन्तस्तम स्तर है, जिसके भीतर युगों-की अनुभूति और संस्कार निहित हैं।

इनके अतिरिक्त और भी कितने ही आत्मा-सम्बन्धी मत हैं, जिनमें कुछ (हिन्दू) आत्माको अनादि-अनन्त मानते हैं ; कुछ (इस्लाम तथा दूसरे सामीय धर्म) सादि अनन्त मानते हैं; कितने ही प्रत्येक आत्मा (जीव)को न्याय-दर्शनकी भाँति सर्वव्यापी मानते हैं ; कितने ही बादरायण, रामानुज और दयानन्दकी भाँति अणु एकदेशीय, कितने ही जैनोंकी भाँति हाथीके शरीरमें हाथीके बराबरका आत्मा और चींटीके शरीरमें चींटीके बराबर बन जानेवाला आत्मा मानते हैं। कुछ बौद्ध जैसे दार्शनिक आत्माको नहीं मानते तथा अपनेको अनात्मवादी घोषित करते हैं, तो भी एक तरहके जन्मान्तर या परलोकको स्वीकार करते हैं।

हम अपने दूसरे ग्रन्थ[१] में बतला चुके हैं, कि किस तरह भारतके सामन्त शासकोंने दुनियामें विद्यमान दरिद्रता, विषमता, शोषण-शोषितके भेद तथा अपने प्रभुत्वको कायम रखनेके लिये वैदिक परलोकको पर्याप्त न समझ शोषित जनताके लिये पुनर्जन्मके फन्देको तैयार किया, और उपनिषद्के ऋषियों तथा बादके धर्माचार्योंने उसे मजबूत किया। आज तो कितनी ही जगहों पर पूर्वजन्मकी याद रखनेवाले बालकोंकी जबर्दस्त प्रदर्शनियाँ भी की गई हैं—और क्यों न हो, पूर्व जन्मकी कमाईके नाम-से मुफ्तकी मिली सम्पत्ति और प्रभुताके औचित्यको सिद्ध करनेका इतना बड़ा हथियार कैसे छोड़ा जा सकता है ! कितनों हीने तो इसे आमदनी-का अच्छा जरिया समझा है। इनके अतिरिक्त कभी-कभी ऐसी घटनायें भी हो सकती हैं, जिनके वैज्ञानिक विश्लेषण न होनेसे भी कुछका अर्थ

---

[१] "दर्शन-दिग्दर्शन"

लगाया जाने लगता है। मेरे एक दोस्तकी स्त्री अपनी एक लड़कीके बारेमें कह रही थीं, कि वह छुटपनमें अपनेसे कुछ पहले मर गये भाई की बातें बतलाती थी। उनके घरमें लड़कियाँ कई थीं; किन्तु लड़का एक ही हुआ था, जोकि कुछ वर्षोंका ही होकर मर गया। मैंने पूछा—बच्चीके गर्भमें रहते वक्त आपको क्या वह बच्चा याद आता था। उन्होंने कहा—याद? मेरी तो बड़ी साध ही थी कि बेटा पैदा हो। यह नई समस्या है—गर्भावस्था, गर्भाधानकी अवस्थामें क्रोमोसोम्में अवस्थित जेनस् (जनक बीज) में क्या कोई इस तरहका संस्कार पैदा किया जा सकता है? आनुवंशिकताके वाहक यही जेनस् हैं। अभी इनके संबंधकी गवेषणा पिछले बीस सालोंसे होने लगी है। वैज्ञानिकोंको इन अन्वेषणोंमें कितनी कठिनाई उठानी पड़ रही है, मानव वीर्य-कीट और रज-अंडके नाभि-कणमें अवस्थित क्रोमोसोम् तथा जेनस् (जनक-बीज) के इस परिमाणसे जान सकते हैं—

	व्यास	भार
क्रोमोसोम्	१/६००० इंच	...
जनक बीज	...	४ परमाणु
परमाणु (साधारण)	१/१० करोड़ इंच	१/५ लाख-लाख-अरब तोला

यह भी ख्याल रखने की बात है, कि पूर्वजन्मकी स्मृति रखनेवाले लड़के सिर्फ उन्हीं घरोंमें पैदा होते "पाये जाते" हैं, जिनके यहां पुनर्जन्मका विश्वास बहुत जबर्दस्त है।

पुनर्जन्मके बारेमें तो बहुतसे मजहब सहमत नहीं हैं, किन्तु नित्य आत्माकी सत्ताको अधिकांश ही स्वीकार करते हैं; हाँ आत्माके लिये सबकी परिभाषा एक नहीं है। यह एकता सिर्फ यही बतलाती है, कि सबका आधार और उद्देश्य एक हैं, और वह है ठोस साकार दुनिया

और उसके जीवन तथा सामाजिक अन्यायसे लोगोंके ध्यानको हटाना, एवं आत्मा और शरीरके उदाहरणसे वर्गभेदको समाजमें कायम रखना। इसलिये साइंस-वेत्ता हैल्डनके शब्दोंमें हमें सावधान रहना चाहिये।[1]—

"जिनको आत्माकी अमरतापर विश्वास है, वह भी स्वीकार करेंगे ; कि इस सिद्धान्तके मरने और जीते रहने पर अत्यन्त शक्तिशाली (वर्ग-) स्वार्थोंका मरना जीना निर्भर है, और इस सिद्धान्तका विश्वास ज्यादातर भावुकता तथा सामाजिक दबावका परिणाम है।"

ख. आचार-विचार

वैज्ञानिक भौतिकवादियोंपर "धर्मात्माओं" की ओरसे आक्षेप होता है कि ये लोग आचारके शत्रु हैं, इसके उत्तरमें लेनिन्ने लिखा है—[2]

"आमतौरसे पूँजीपति कहते हैं, कि कमूनिस्त सभी (तरहके) सदाचारोंको नहीं मानते। यह असली बातको घचपचमें डाल देनेका उनका तरीका है, जिससे वह मजदूरों तथा किसानोंकी आँखोंमें धूल डालना चाहते हैं। किस अर्थमें हम आचार-नियमसे इन्कार करते हैं? इसी अर्थमें कि ये आचार-नियम भगवान्‌के विधान हैं।"

१. आचार परिवर्त्तन-शील

वैज्ञानिक भौतिकवादके दार्शनिक विचारोंसे अनुप्राणित समाजवादी आन्दोलन, आराम-कुर्सीपर बैठकर लेक्चर झाड़नेवाले वाक्शूर राजनीतिज्ञोंकी राजनीति नहीं है ; इसमें पड़नेवालोंको आगसे खेलना होता है ; फिर वहां आचार-हीन पुरुषकी टांग कैसे ठहर सकती है ! वर्ग-संघर्ष

---

[1] The Marxist Philosophy and the Sciences p. 130

[2] Lennin : On Religion

एक ऐसी भट्टी है, जिसमें वह आदमी टिक नहीं सकता, जिसमें जबर्दस्त नैतिक बल नहीं है। लाखोंकी तादादमें जो कमूनिस्त हंसते-हंसते स्पेन, फ्रांस, और रूसमें फासिस्तोंकी गोलियोंके शिकार हुये; उन्हें आचारहीन कहनेवाले कौन हैं, जरा उनके चेहरोंको देखिये तो। निर्लज्जताकी आखिर हद्द भी कोई है! ये हिजड़े, कायर, लंपट, पतित, सब तरहकी ईमानदारी से रहित, नीच, स्वार्थी, मानवताके कलंक उन कमूनिस्तोंपर हमला करने चले हैं, जो जगत्में स्वार्थ और लोभकी जगह मानवताकी बेलको अपने खूनसे सींचकर लगा रहे हैं; जिनकी कुर्बानियों और बहादुरीके कारनामोंसे इतिहासके सबसे सुन्दर पृष्ठ लिखे जा रहे हैं।

कमूनिस्त सचमुच ऐसे सदाचारको बिल्कुल माननेके लिये तैयार नहीं, जिसकी मंशा कुछ व्यक्तियोंकी स्वार्थ-सिद्धि है। उनके सदाचारकी नींव किसी ईश्वरीय विधान या अल्हाम पर नहीं, बल्कि बुद्धके शब्दोंमें "बहुजनहिताय बहुजनसुखाय" है। समाजके स्वार्थको वह व्यक्तिके स्वार्थके ऊपर मानते हैं। वह चाहते हैं, व्यक्ति खुशीसे अपने तात्कालिक सुख और जीवन तकको भी वर्ग-संघर्ष, क्रान्ति तथा नये संसारके निर्माणके लिये त्याग करे। समाजवादी सदाचार इसी बेहतर दुनियाकी स्थापनाके लिये विरोधियोंके मुकाबिलेमें किये जानेवाले वर्ग-संघर्षके समय प्रकट होता है, और उसकी पूर्णता समाजवादी समाजकी स्थापना होने पर होती है।

२. प्राचीन भारतमें यौन सदाचार

धर्मात्मा लोग जिस वक्त सदाचारकी बात करते हैं, उस वक्त उनके ख्यालमें रहता है, कि सदाचार एक ऐसा अचल-अटल विधान है, जो कि सभी देश-कालमें एकसा बना रहता है; किन्तु यह धारणा बिल्कुल गलत है। उत्तरी भारतमें मामा-फूफीकी लड़की सगी बहिनके समान मानी जाती हैं, जबकि उड़ीसा और गुजरातसे दक्खिन, उन्हें व्याहनेका

हक सबसे पहिले ममेरे फुफेरे-भाईको होता है। और प्राचीन भारतके सदाचारको चाहते हैं, तो पुरानी पुस्तकोंको उलटकर देखिये ; मैंने इनके बारेमें अन्यत्र[1] काफी लिखा है, वहाँ उससे कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करता हूँ—

"नदी पार होते-होते पराशरका सत्यवती (मल्लाहपुत्री) के साथ समागम प्रसिद्ध है"[2]। यद्यपि यहाँ ग्रंथकारने पराशरकी दिव्यशक्तिसे कुहरा पैदा कर लज्जा ढाँकनेकी कोशिश की है ; किन्तु उत्तथ्यपुत्र[3] दीर्घतमा—ऋग्वेदके कितने ही सूक्तोंके कर्त्ता तथा पीछे गोतम नामसे प्रसिद्ध गौतम-गोत्रियोंके प्रथम पूर्वज— ने लोगोंके सामने ही स्त्री-समागम किया।

"उस पुराने युगमें ऋतुकालके अवसर पर स्त्री किसी पुरुषसे रतिकी भिक्षा माँग सकती थी। शर्मिष्ठाने इसी तरह ययातिसे रति-भिक्षा-माँगी[4] थी। यही नहीं, ऐसी भिक्षाका देना न स्वीकार करनेपर गर्भपातके समान पाप होता है, यह भी वहीं[5] बतलाया गया है।...उलूपीने भी अर्जुनसे रति-भिक्षा माँगते हुए कहा था कि स्त्रीकी प्रार्थना पर एक रातका समागम अधर्म नहीं[6]।...उत्तंकने ऋतुशान्तिके लिये अपनी गुरु-स्त्रीके साथ गमन किया, और उसे बुरा नहीं समझा गया[7]। चन्द्रमाने अपने गुरु बृहस्पतिकी भार्या ताराके साथ रति की, जिससे बुध पुत्र हुआ। गौतमकी पत्नी अहल्याका इन्द्रके साथ संबंध प्रसिद्ध है ; किन्तु गौतमने अपनी पत्नीको सदाके लिये त्याज्य (तिलाकके योग्य) नहीं बनाया।...

"महाभारत कालमें विवाह-बंधन कितना शिथिल था, इसके कितने ही उदाहरण तो कुमारी कन्याओंके प्रतिष्ठित पुत्र (कानीन) हैं। पांडवोंकी माँ कुन्ती जब कुमारी थी, तभी उससे कर्ण पैदा हुआ था।

---

[1] "मानव समाज" ८८-९६। [2] महाभारत, आदिपर्व ६३। [3] वहीं १० [4] वहीं ८२। [5] वहीं ६३। [6] अनुशासन पर्व १०२। [7] वहीं ३।

कुमारी गंगासे शन्तनुने भीष्मको पैदा किया था। पराशरने कुमारी सत्यवती (मल्लाह-पुत्री) से व्यासको पैदा किया था, पीछे यही सत्यवती शन्तनुकी रानी बनी। कुन्तीकी सौत माद्रीकी जन्मभूमि मद्रदेश (वर्तमान स्यालकोटके आसपासके जिले) के उन्मुक्त स्त्री-पुरुष संबंधकी कर्णने बड़ी कड़ी आलोचना की है।...मद्रदेशमें पिता, पुत्र, माता, सास, ससुर, मामा, जमाई, बेटी, भाई, पाहुना, दास, दासीका यौन-सम्मिश्रण बहुत ज्यादा था। वहाँकी स्त्रियाँ स्वेच्छा-पूर्वक पुरुष-सहवास करतीं। अपरिचितके साथ भी प्रेमके गीत गातीं। गंधारियोंकी भाँति माद्रियाँ भी शराब पीतीं, नाचतीं। वहाँ वैवाहिक संबंध नियत न था, स्त्रियाँ मनमाना पति करतीं। एक स्त्रीके कई पतिका उदाहरण प्रातःस्मरणीय पंच-कन्याओंमें एक द्रौपदी हमारे सामने मौजूद है।

"बहिन, बेटी पोतीके साथके व्याहके भी कितने ही उदाहरण हमें इन पुराने ग्रंथोंमें मिलते हैं। इक्ष्वाकुके निर्वासित कुमारोंने अपनी बहिनों-से व्याहकर शाक्यवंशकी नींव डाली[1]—इस तरहका व्याह स्यामके राजवंशमें अब भी मौजूद है। दशरथ जातकके अनुसार सीता रामकी बहिन और भार्या दोनों थी। ब्रह्माकी अपनी पुत्री सरस्वती पर आसक्ति पुराण-प्रसिद्ध है। ब्रह्माके पुत्र दक्षकी कन्याने अपने दादा (ब्रह्मा)से व्याह किया था। बिना व्याहके स्त्री-पुरुषोंका जिस तरहका उन्मुक्त संबंध था, उसे देखते कोई कह नहीं सकता कि यौन सदाचार भारतमें सब देश-कालमें एकसा चला आया है। जो बात भारतके बारेमें है, वही दुनिया के दूसरे मुल्कों पर भी लागू है।

"यौन ही नहीं सभी प्रकारके सदाचार बराबर बदलते रहे हैं। एन्गेल्सने इसी बातकी ओर ध्यान दिलाते हुए लिखा है—

---

[1] बुद्धचर्या

"यदि सच-झूठके संबंधमें हमने बहुत तरक्की नहीं की, तो भलाई-बुराईके बारेमें तो हम और भी पीछे रहे। भलाई बुराईका ख्याल एक जातिसे दूसरी जाति, एक कालसे दूसरे कालमें इतना बदला है, कि अक्सर वह एक दूसरेसे बिल्कुल उलटा है।"

अथेन्सका न्याय वही नहीं था, जो कि आजके इंगलैंड या भारतका है। याज्ञवल्क्यकी भाँति सुक्रातके श्रोता भी दासताको अन्याय-युक्त नहीं समझते थे। बीसवीं सदीके भारतमें कितनी ही बातें न्यायानुमोदित हैं, जिन्हें २२वीं सदीका भारत अन्याय नहीं समझेगा, और आज भी जिसे सोवियत्-भूमिमें अन्याय समझा जाता है।

३. हमारा और पूँजीवादी सदाचार

इसीलिये वैज्ञानिक भौतिकवादी "किसी तरहके सदाचार-सम्बन्धी मतवादको नित्य, अन्तिम तथा अटल माननेसे साफ इन्कार करते हैं।" खासकर, जब वह देखते हैं कि हरएक सदाचारके पीछे शोषक-वर्गका स्वार्थ छिपा हुआ है।

वैज्ञानिक भौतिकवाद किसी अटल नित्य सदाचारके माननेसे इन्कार करता है, उसका अर्थ यह नहीं कि वह किसी प्रकारके सदाचार-को नहीं मानता। आज भी वह क्रान्तिकारियोंके सदाचारोंको मान रहा है, जिनके बिना किसी उच्च आदर्शको पूर्ण नहीं किया जा सकता। वह जिन शोषक-शोषित वर्गोंसे हीन समाजको कायम करनेमें लगा हुआ है, उसमें वैयक्तिक सम्पत्तिकी कोई गुंजाइश नहीं रहेगी, जिसका आवश्यक परिणाम यह होगा कि वेश्यावृत्ति—दुनियाके सबसे पुराने धर्मानुमोदित व्यवसाय—का नाम तक सुननेमें नहीं आयेगा। साथ ही जिसे हम आज-का परिवार मानते हैं, उसके लिये भी गुञ्जाइश नहीं रहेगी। साम्यवादी परिवार ग्राम और देशव्यापी होगा, जिसमें हमारापन बहुत विस्तृत देशमें लागू होगा। स्त्री आज भार्या=खाना-कपड़ा देकर पोसी जाने-

वाली समझी जाती है; साम्यवादी समाजमें कोई स्त्री किसी पुरुषकी—अपने पतिकी भी—कमाई खानेवाली नहीं मिलेगी। दोनों आर्थिक तौरसे भी पूर्ण समान होंगे; इसलिये आज परिवारके नामपर हम जो कुछ देख रहे हैं, उसमें कितने अंशका पता नहीं रहेगा, इसका आप खुद अनुमान कर सकते हैं।

वैज्ञानिक भौतिकवादी वैयक्तिक सम्पत्तिको नहीं रखना चाहते; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह चोरीको, वैयक्तिक सम्पत्ति उठानेका साधन मानते हैं। "ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्"की भावना तो उनमें ही हो सकती है, जो कि वैयक्तिक सम्पत्तिको कायम रखना चाहते हैं।

और सत्य-भाषण! वैयक्तिक सम्पत्तिने चोरीको पैदा किया—बुद्धने अपने एक उपदेशमें[1] बड़ी सुन्दर रीतिसे बतलाया है कि कैसे वैयक्तिक सम्पत्ति आई, और फिर वही मार-काटका कारण बनी। इस बातमें बुद्ध गाँधीसे बहुत आगे बढ़े हुए थे, जो कि राजकोटके लाख तजर्बेके बाद भी संरक्षताके सिद्धान्तको छोड़नेके लिये तैयार नहीं हुये। उसी वैयक्तिक सम्पत्तिने आदमीको झूठ बोलनेके लिये मजबूर किया। सभ्यतामें ही आदमी जितने ज्यादा दीक्षित होते जाते हैं, उतने ही वह झूठ-फरेबमें बढ़ते जाते हैं, इसे साबित करनेकी जरूरत नहीं। जंगली जातियों तथा सीधे-सादे पहाड़ी लोगोंमें आप झूठ बहुत कम पायेंगे। सभ्यतासे हमारा मतलब वैयक्तिक सम्पत्तिके भावसे भरी हुई सभ्यतासे है, जिससे ऊपर उठकर हम 'मानवता'की अवस्थामें पहुँचना चाहते हैं।

फिर पूँजीवादी आचारोंकी सूची पुराने आचारों तक ही समाप्त नहीं हो जाती है। भोजमें असुक रंग-ढंगकी पोशाक पहनकर जाना चाहिये, नाचमें असुक तरहकी। दर्बारमें चूड़ीदार पायजामा होना चाहिये या

---

[1] देखो "मानव-समाज" पृष्ठ ५५-५६ तथा "दीघ-निकाय" पृष्ठ २४२-४४।

पैले पाँवका, शेरवानी होनी चाहिये या पारसी कोट—यह सभी वर्त्तमान पूँजीवादी वर्गद्वारा समाजपर लागू किये आचार हैं। इन आचारोंका यदि सम्बन्ध सिर्फ काट-छाँट तक ही रहता, तो कोई वैसी बात न थी; किन्तु इनका मतलब है, अपने वर्गको शोषितोंसे अलग कर वर्ग-संगठन-को मजबूत करना। वैसे पूँजीवादी दोष देते हैं साम्यवादियों पर, कि वह वर्गभेद फैलाते हैं; लेकिन आप समाजके भीतर पूँजीवादियों—सामन्तोंको भी ले लीजिये—की रहन-सहन तथा बर्त्तावको देखें तो पता लगेगा कि अपने खर्चीले खान-पान रहन-सहनसे उन्होंने अपनेको ऐसा बना लिया है कि साधारण मजदूर किसान उनसे मिल ही नहीं सकते। वर्ग-भेद जिनका बनाया और मजबूत किया हुआ है, वही बूटकी टोकरें भी लगा रहे हैं। साम्य-वादियोंने इन टोकरोंके लगानेका परामर्श पूँजीपतियों या सामन्तोंको कभी नहीं दिया। यदि उनका कोई अपराध है, तो यही कि जो बूट तुम्हें टोकरें लगाते हैं, उन्हें चाटना छोड़ ही न दो, बल्कि "जैसा देवता वैसा अच्छत"-की नीति स्वीकार करो। इसका अर्थ लगाया जाता है वर्ग-विद्वेष फैलाना। हिंसा और पशुबलके बल पर शताब्दियोंसे जिन लोगोंने मनुष्यके शोषण और गुलामीको कायम रखा है, जरा भी साँस लेनेकी कोशिशको, जो अपने उसी बलसे दबाना चाहते हैं, उससे बचनेके लिये जो कुछ भी किया जाय, उसे वह हिंसाका नाम देते हैं—इसे कहते हैं—"उलटा चोर कोतवालको डंडे।"

४. समाज-हित सदाचारकी कसौटी

वैज्ञानिक भौतिकवाद जगत्को परिवर्तनशील मानता है; इसीलिये वह ऐसे आचार-विचारका पक्षपाती है, जो ऐसे जगत्की तात्कालिक अवस्थाके अनुकूल हो। जिस तरह "बहुजनहिताय" आचारको पूँजी-पतियों—सामन्तोंके आचारसे हीन नहीं, बल्कि श्रेष्ठ कहा जायगा, वैसे ही देश-कालानुसार परिवर्तनशील आचार भी श्रेष्ठ है। "बहु जन-हित"

के पुराने शब्दको "समाजहित" से बदल दीजिये, और फिर इसी समाज-हितको आचारकी कसौटी बना दीजिये। बस, इसी कसौटी पर जो आचार ठीक उतरता है, उसे ही सदाचार—आचार—कहना चाहिये।

(*समाज*)—समाजको न तो ईश्वरने उत्पन्न किया, और नहीं मनुष्योंने मिलकर तय कर लिया कि आओ, हम अपनी स्वतंत्रताका इतना भाग सर्व-हितके लिये छोड़कर व्यक्तिकी जगह समष्टिमें रहने लगें। वास्तविक बात यह है कि आदिम मानवको प्रकृतिने मजबूर किया कि यदि वह जीवित रहना चाहता है, तो सामाजिक जीवन स्वीकार करे। मानव प्रकृतिके चैलेंजको समाज-बद्ध ही होकर स्वीकार कर सकता था। इस तरह भीतरसे नहीं, बल्कि बाहरी परिस्थितिने वैयक्तिक मानवको समाजबद्ध बननेके लिये मजबूर किया। वैयक्तिक स्वतन्त्रताके कुछ हिस्सेको छोड़ देना, यह भी अभावात्मक तथा निराकार-सी बात है; मानवने समाजको सामूहिक श्रम पर स्थापित किया। वह दासों और स्वामियोंका युग नहीं था, बल्कि स्वतन्त्र जांगल-मानवका युग था। अभी तक जो हरएक आदमी अलग-अलग अपना काम करता था, अब उसने श्रमको सामाजिक—सामूहिक या सम्मिलित—बनाया। भाषासे लेकर आगेकी सारी उन्नति उसके इसी समाजबद्ध होने—सम्मिलित श्रम करने—का परिणाम था। सामाजिक श्रमने जहाँ अपने उत्पादनको अधिक करके दिखाया, वहाँ अब वह प्रकृति तथा दूसरे (वन्य) शत्रुओंसे मुकाबिला करनेमें भी अधिक सक्षम हो सका; और तबसे पशु-मानव, मानव-मानव हो गया। मानवके आगेके विकासके बारेमें हम अन्यत्र[1] लिख चुके हैं, इसलिये उसे यहाँ दुहरानेकी जरूरत नहीं।

मानव पहिले प्रकृतिसे सीधे मुकाबिला करनेके लिये मजबूर था; किन्तु अब उसे मानव-समाजका भारी सहारा प्राप्त हुआ। पहिले

---

[1] "मानव-समाज"

मानवके लिये प्रकृति रहस्यमयी और बिल्कुल अज्ञात थी ; किन्तु समाजने उसकी रहस्यमयताको कम करना शुरू किया, और मानवका पैर दृढ़ताके साथ धरतीपर पड़ने लगा। यह स्मरण रखना चाहिये कि समाज सिर्फ अपने भीतरके व्यक्तियोंका योग *मात्र* नहीं है। वह मनुष्योंका *सक्रिय* आपसी संबंध तथा प्रकृतिके साथ उसकी सक्रिय, *सामूहिक*, प्रयोगात्मक क्रिया-प्रतिक्रिया है। इस प्रकार समाज सिर्फ मानव + मानव + मानव... नहीं, बल्कि मानव × मानव × मानव... है।[1] मनुष्योंके साधारण जोड़के अतिरिक्त वहाँ उनकी मानसिक तथा व्यावहारिक क्रिया-प्रतिक्रियामें एवं परिमाणके समागमसे हुआ गुणात्मक परिवर्तन समाजकी कीमतको कहीं ज्यादा बढ़ा देता है। हम समाजके मूल्यको इतने हीसे नहीं आँक सकते ; क्योंकि आजका मानव स्वयं समाजकी उपज, तैयार किया माल है। बचपनसे ही उसे समाजकी एक बहुत बड़ी देन—भाषाका सहारा नहीं मिलता है; बल्कि उसके विचारोंके निर्माणमें भी समाजका जबर्दस्त हाथ है—समाजकी लोरियोंसे लेकर कानून, आचार, ज्ञान-प्रचार आदि सभी मिलकर आजके मानवका निर्माण करते हैं। वस्तुतः कहना चाहिये, आजका मानव उतना प्रकृतिका पुत्र नहीं है, जितना कि समाजका।

१६२० ई० में मेदिनीपुरके जंगलमें पादरी जे. ए. एल. सिंहने भेड़ियेकी माँदसे दो लड़कियोंको निकाला ; जिनकी रक्षामें उनकी पोषिका माँ मादा-भेड़ियेने अपनी जान गँवाई। पादरी सिंहने इन बच्चियोंका नाम कमला (८ वर्ष) और अमला रखा। छोटी अमला एक साल बाद मर गई ; किन्तु बड़ी ६ वर्षतक जिन्दा रह, १७ वर्षकी हो १९२९ ई० में मरी। पादरी सिंहने कमलाके भेड़ियासे आदमी बननेकी प्रगतिको अपनी डायरीमें दर्ज किया है।[2] जिससे पता लगता है कि कमला

---

[1] Dialectics (by T. A. Jackson) pp. 123-4.

[2] "Wolf Child and Human Child" (Methune, London)
(देखिये Statesman, Calcutta 23-3-1942, p. 4)

मानव समाजमें आनेके दो वर्ष बाद दूसरेकी सहायताके साथ खड़ी होने लगी, तीन वर्ष बाद बिना सहायताके खुद खड़ी होने लगी। चार वर्ष रहनेके बाद उसने अपने हाथसे गिलास लेकर पानी पिया। छै वर्षके रहनेके बाद उसने आदमीकी भाषाके ३० शब्द सीखे ; इसी समय उसे समझमें आने लगा, कि बिना तन ढाँके बाहर जाना लज्जाकी बात है, प्रारम्भिक वर्षोंमें कमला कपड़ा पहिनानेपर फाड़ डालती थी। सत्रह वर्षकी उम्रमें पहुँचनेपर कमलाका भेड़ियापन और मानवताका द्वन्द्व खतम हुआ, और वह एक भोली-भाली प्यारी बच्चीकी तरह रहने लगी।

भेड़ियाकी "बच्ची" कमलाका सिर्फ नौ वर्षका जीवन हमारे सामने गुजरा, और उसे भी विशेषज्ञोंकी देख-रेखमें विकसित नहीं होने दिया गया, नहीं तो और भी कितनी ही बातें मालूम होतीं ; किन्तु कमलाने यह साबित कर दिया कि जिसे हम मानवता कहते हैं, वह व्यक्तिकी नहीं समाजकी देन है। समाजसे उसे सीखनेकी व्यक्तिमें शक्ति है, जो कि बचपनमें ज्यादा तेज होती है, और उमरके साथ कम होती जाती है, कमलाने छै वर्षमें ३० शब्द सीखे थे, यह उसीको प्रकट करता है और खड़े होनेमें चार वर्ष लगना यह भी बतलाता है, कि आदमीके शरीरके विकासमें भी समाजका जबर्दस्त हाथ है। धर्म, ईश्वर-विश्वास, आचार-विचार स्वाभाविक हैं, इस बातको कमला एक दम झूठ साबित करती है।

वैज्ञानिक भौतिकवादी भलाई, बुराई, सदाचार, दुराचारमें मानवता-की साकार प्रतीक इसी समाज-हितको कसौटी मानते हैं, और ईश्वर, धर्म जैसी धोखेकी टट्टियोंसे खबरदार रहनेके लिये सारी शोषित, और कमकर जनताको आगाह करते हैं। चूंकि समाज परिवर्तनशील है, इसलिये सदाचार भी यदि उससे पिछड़ना नहीं चाहता, तो उसे भी परिवर्तन-शील होना चाहिये।

ग. दृष्टिके विकार

दृष्टि या नज़रपर यदि कोई पर्दा पड़ जाय, अथवा उसे प्रकाशके अभाव—अंधकार—की सहायता मिले, तो वह बेकार हो जाती है, किन्तु यदि उसे उलटे प्रकाश या चश्मेकी मदद हो तो वह देखेगी तो नहीं, मगर वास्तविककी जगह कुछ और ही देखेगी—सफेद रंग उसे पीला मालूम होगा और गोल चीज लम्बी। इसलिये सहायता लेते वक्त हमें ख्याल रखना होता है कि हम विकार पैदा करनेवाले सहायकोंके फेरमें न पड़ जायँ। संस्कृतके शब्द दर्शन और दृष्टि दोनों एकार्थवाची हैं, इसलिये दृष्टिके विकारसे हमारा अभिप्राय दर्शनके विकारसे है, जिसके कारण कितने अनर्थ किये जा सकते हैं; इसके कई उदाहरण हमको अब-तक मिल चुके हैं। यद्यपि दर्शनोंका दिग्दर्शन कराते वक्त हम दर्शनोंके विकारोंका संकेत अन्यत्र[1] काफी कर चुके हैं, इसलिये उन सबको यहाँ दुहराया नहीं जा सकता, तो भी दर्शन-विकारों—दर्शन-मलों—पर हम थोड़ा और लिखना चाहते हैं, ताकि दर्शन-मल-प्रक्षालनमें पाठकोंको सहायता मिले—सिर्फ यहाँ आये दर्शन-मलोंके बारेमें ही नहीं, बल्कि इनके उदाहरणसे सभी प्राचीन-नवीन, पौरस्त्य-पाश्चात्य दर्शनोंके बारेमें भी। यह ध्यानमें रखना होगा कि "दृष्टि-संयोजन"[2] (=दृष्टिका बंधन) सबसे जबर्दस्त बंधन है, जबतक द्वंद्ववादी दर्शनकी सहायताने उसे मुक्त नहीं कर लेते, तबतक अपनी "दर्शन-शक्ति" को ठीक ठीक तौरसे इस्तेमाल नहीं कर सकते।

१. उदयनका ईश्वरवाद

धर्मकी कल्पना वर्ग-स्वार्थको दृढ़ करनेके लिये हुई और समाजके साथ धर्मके बंधनको शिथिल न होने देने, अथवा यदि सेनेकाके शब्दोंमें—"सारा (प्रभु—शोषक-) जगत ध्वस्त हो जायगा यदि धर्म दृढ़

---

[1] "दर्शन-दिग्दर्शन" [2] बुद्धका गढ़ा शब्द ।

गया"—का ख्याल कर शोषक-जगत्को बचानेके लिये धर्मकी नई व्याख्या या नये-नये अवतारोंकी जरूरत पड़ती है। धर्म और ईश्वरकी धाकको अक्षुण्ण रखनेके लिये भारी प्रयत्न पहिले भी हुये हैं, और आज भी हिटलर कह रहा है कि मैंने नास्तिक बोलशेविकोंके न-क्षत्र करनेके लिये तलवार उठाई है, इस प्रकार मेरा युद्ध धर्म-युद्ध है। प्रायः हजार वर्ष पूर्व उदयनाचार्य (९८४ ई०) ने भी एड़ीसे चोटी तककी ताकत ईश्वरकी सत्ता सिद्ध करनेके लिये लगाई थी। यद्यपि उदयनके दिये प्रायः सभी हेतु बासी होगये हैं, और आजके स्वार्थ-संरक्षकोंने उसके लिये दूसरा ही तरीका स्वीकार किया है, तो भी भारतके लिये वह कुछ ऐतिहासिक महत्त्व रखता है—और कुछ दिवान्ध तो अब भी समझते हैं, कि उदयनकी "न्याय कुसुमांजलि" आजके जगत्में भी ईश्वरकी सत्ताको सिद्ध कर सकती है। उदयनने ईश्वर होनेके ये हेतु दिये हैं[1]—

(१) हर एक कार्यका कोई कारण होता है, इसलिये जगत्रूपी कार्यका कारण चाहिये।

(२) मूल परमाणुओंको जोड़े बिना स्थूल जगत् बन नहीं सकता, इसलिये जोड़नेवाला चाहिये;

(३) धारण बिना जगत् ठहर नहीं सकता है, इसलिये धारण करनेवाला चाहिये;

(४) शिल्प या ज्ञान परंपरासे प्राप्त होता है, इसलिये कोई आदि-गुरु चाहिये;

(५) वेद जैसे वाक्योंका प्रमाण माना जाता है, ऐसे प्रमाणसे होनेका कोई प्रमाणदाता होना चाहिये;

---

[1] "कार्यायोजन-धृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविद् अव्ययः॥"
—न्यायकुसुमांजलिः ५।१

(६) वेद (श्रुति) भी ईश्वरका होना बतलाता है ;

(७) वेद-वाक्योंका भी रचयिता चाहिये ;

(८) दो, तीन, चार···संख्याकी कल्पनाका भी कोई आदिकर्त्ता चाहिये ; और

(क) वह सर्वज्ञ (विश्वविद्) होना चाहिये ;

(ख) वह अ-विनाशी (अव्यय) होना चाहिये ।

उदयनने आठ युक्तियोंसे ईश्वरको सिद्ध करना और दो शब्दोंमें उसके रूपको बतलाना चाहा है। इन युक्तियोंका खंडन पहिले ही जगह जगह हो चुका है ; तो भी यदि इकट्ठा करानेकी जरूरत है, तो हम कह सकते हैं[1]—

(१) कार्य एक कारणसे नहीं अनेक कारण ("हेतु-सामग्री", अनेकहेतु-संगति) से उत्पन्न होता है, इसलिये उससे एक कारण ईश्वर सिद्ध नहीं होता,

(२) भौतिक तत्त्व—घटना-प्रवाह—विरोधि-समागम हैं, इसलिये आयोजन, वियोजनके स्वाभाविक हेतु वहाँ भीतर मौजूद हैं ;

(३) जगत्में धारण (धृति) स्थिरता आँख न रखनेवालोंको दीख पड़ती है ;

(४) शिल्प या ज्ञान अविच्छिन्न परंपरासे नहीं आये हैं, बल्कि विच्छिन्न परंपरा (विच्छिन्न सन्तति) से प्राप्त होते हैं : एक बार वह बिल्कुल नये पैदा होते हैं, फिर उनकी परंपरा चल पड़ती है।

(५-७) वेदके प्रामाण्य आदिकी बात, धर्मकीर्तिके गिनाये ध्वस्त प्रज्ञाके पाँच चिह्नोंमें हैं, जिसका जिक्र आज सनातनी छोड़ कोई

---

[1] विरोधि-हेतु-संगम्याऽधृतिर्विच्छिन्नसन्ततिः। खण्डि:, संख्या: श्रुती कल्प्ये, नहि विश्वविद् नान्यथः।"—न्यायकुसुमांजलिः ([illegible])

विद्वन्मंडलीमें नहीं उठा सकता ; वेद मनुष्योंकी कल्पना, मनुष्योंकी सृष्टि हैं ; इतिहास-प्रेमियों तथा आदिम मानव सभ्यताके जिज्ञासुओंके लिये वह उपयोगी सामग्री प्रदान करते हैं ;

(८) दो, तीन***आदि संख्याकी कल्पना मानवने की, और उसकी कल्पनासे निकले आजके गणितके सामने उदयनके समयका गणित नगण्य-सा है।

(९) कोई विश्वविद् (सर्वज्ञ) नहीं, क्योंकि सर्वज्ञ होनेका अर्थ है, आज और आजसे करोड़ों वर्षों बाद भी तिनकेसे लेकर मानव-मस्तिष्कमें जो कुछ हो रहा है या होगा ; वह सब उस विश्ववेत्ताके ज्ञानमें पहलेसे जैसा मौजूद है, वैसा ही वह हो रहा है ; ऐसे भाग्यवादका गुणात्मक परिवर्त्तन द्वारा हम पहले खंडन कर चुके हैं।

(१०) अ-विनाशी किसीका कारण नहीं बन सकता, क्योंकि कारण बननेके लिये उसे सक्रिय होना चाहिये, जो सक्रिय है वह स्वरूप और स्वभावमें अपरिवर्त्तित नहीं रह सकता ; इस तरह अविनाशी और कारण यह दोनों प्रकाश-अन्धकारकी भाँति एक दूसरेके विरोधी हैं।

उदयनने, वस्तुतः ईश्वरको सिद्ध करनेके लिये जो युक्तियाँ दी हैं, उनका जबर्दस्त खंडन उनसे पौने चारसौ वर्ष पहले धर्मकीर्ति (६०० ई०) कर चुके थे[1] और जिससे उदयन पूर्णतया परिचित थे ; किन्तु फिर-फिर दुहराना प्रोपेगंडाकी बर्कत है, इससे भी वह पूर्णतया परिचित थे; इसलिये पुनरुक्तिको दूषण नहीं भूषण बना वह अपना काम करते गये।

२. प्रयोजनवाद

जब हम एक घरको देखते हैं, तो समझ जाते हैं, कि इसे एक आदमीने बनाया, और उसने इसे एक विशेष प्रयोजनके लिये एक

[1] देखिये "दर्शन-दिग्दर्शन" में धर्मकीर्तिका दर्शन।

विशेष योजनाके अनुसार बनाया है। इसलिये "यदि प्रकृति एक केकड़े, एक तूफान या बाघकी पीली काली धारियाँ बनाती है" तो इसका कोई प्रयोजन है।—यह है यूरोप के बीसवीं सदीके ह्वाइटहेड जैसे कुछ दार्शनिकोंका महान् दर्शन। हम जानते हैं, देवफोंकी (थ्योसोफी) के अभिनव धर्मकी भाँति यह महान् दर्शन भी काफी पुराना है, और बीसवीं सदीके प्रयोजनवादी दार्शनिकोंने पुराने सूत्रको ही फिरसे उज्जीवित करनेकी कोशिश की है; जिसका अर्थ यही है, कि सोफोकल्की आत्मा ह्वाइटहेड्के रूपमें अवतार लेनेकी जबर्दस्त जरूरत समझती है।

विद्याका काम है, अज्ञातकी व्याख्या ज्ञातसे करके उसे समझने लायक बनाये, किन्तु प्रयोगवादी दार्शनिक अपनी दार्शनिकताका जबर्दस्त अपव्यय कर रहे हैं, जब कि वह ज्ञेय विश्वकी व्याख्या अज्ञातकी सहायतासे करनेका प्रयत्न करते हैं, जिस तरह प्रयोगवादी बाघकी काली पीली धारीके भीतर खास प्रयोजन बतला रहे हैं, उसी तरह कहा जा सकता है, कि समूरी लोमड़ी शिकारके प्रयोजनसे पैदा हुई; और जैसे गाय-भैंस खानेके प्रयोजनसे पैदा की गई, उसी तरह हिन्दुस्तानी तथा दूसरी काली जातियाँ गुलाम बननेके लिये, एवं सफेद जर्मन आर्य-जाति दुनियापर शासन करनेके प्रयोजनसे पैदा हुई। और हिन्दुओंकी गीता तो गला फाड़-फाड़ कर कह ही रही है—कि "भगवान् (मैं) ने चारो वर्णोंको गुण-कर्मसे अलग कर करके बनाया":[1] जिसमें शूद्रोंका काम तीनों ऊँचे वर्णोंकी खिदमत करना भर है। बीसवीं सदीका प्रयोगवाद भी हमें बूढ़ोंके उसी "ज्ञानभंडार" तक पहुँचा देता है, जिसमें "भगवान्की मर्जीके बिना पत्ताका भी न हिलना" सबसे बड़ा ज्ञान है, और जो शोषकों, धन-चोरोंके प्रयोजनका सबसे बड़ा हथियार है।

हमको यह मालूम है, कि जब तक दार्शनिकोंका प्रयोजनवाद मानव बुद्धिको बाँधे हुये था, और हरएक अज्ञात वस्तुको उसे बने व्याख्या कर

---

[1] "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण-कर्म-विभागशः।"

डालनेकी प्रवृत्ति थी, तब तक साइंस आगे नहीं बढ़ सका, और जैसे ही बुद्धि प्रयोजनवादके यांत्रिक बंधनसे मुक्त हुई, वैसे ही उसने प्रयोगके द्वारा साइंसका रास्ता साफ किया। प्रयोजनवाद साइंसका जबर्दस्त दुश्मन है; वह ठीक उससे उलटा रास्ता लेनेको कहता है। बाघकी पीली जमीन पर काली धारीको ही ले लीजिये, प्रयोगवादी मुल्ले कहेंगे, प्रकृति—(ईश्वरको वह इस नामके भीतर छिपाना चाहते हैं, क्योंकि जड़ प्रकृतिके साथ उनकी इतनी छोह नहीं हो गई है कि उसे प्रयोजन-चेतना रखनेवाली मान लें) ने बाघको काली-पीली धारी इसलिये प्रदान की है, कि वह अपनेको छिपाकर दुश्मनसे बचा सके। साइंसवेत्ता इस धारीको लेकर *प्राकृतिक-निर्वाचन*[१] और *जाति-परिवर्त्तन*[१]के महान् सिद्धान्तोंका आविष्कार करनेमें सफल हुये जो कि प्रयोजनवादसे बिल्कुल उलटे हैं।—"जो वस्तु (घटना-प्रवाह) खास विशेषतायें रखती है, वह चिरस्थायी होती है। कुछ व्यक्ति नये परिवर्तन-द्वारा अपनेमें नई विशेषतायें लाते हैं। अपने आहार-विहारके लिये, अपने शत्रुओंसे बचनेके लिये, जो विशेषतायें उपयोगी सिद्ध होंगी, उन विशेषताओंका धनी बच रहेगा, और जो अनुपयोगी या हानिकारक सिद्ध होंगी, उनके धनीका विनाश अवश्यंभावी है। बरसातमें कई कीड़े पैदा होते हैं, जिनमेंसे कुछ रंग-रूपमें हरे पत्तोंसे मिलते हैं, कुछका रंग किसी वृक्षकी छाल जैसा होता है, और कुछका वहाँकी मिट्टी जैसा। इन रंगों पर यदि हम गौर करें, तो मालूम होगा, कि ये रंग दुश्मनकी नजरसे छिपनेमें बड़ी मदद देते हैं, गोया यह वर्ण उनके रक्षा-कवच है। एक कीड़ा सूखी काली जगहमें पीढ़ियोंसे रहता था। समय बदला, अब वह जमीन हरी-भरी हो गई। अब कीड़ा हरी पत्तियों और हरे पौधोंमें रहता है। उसकी सन्तानोंमें अधिकांश कीड़े चमकीले, लाल और काले रंगके हैं, और दो-चार *जाति-परिवर्तन*के

---

[१] देखिये "विश्वकी रूपरेखा"

कारण हरे रंगके। कीड़ोंके खानेके लिये कितने ही पक्षी, कितने ही दूसरे कीड़े भी मुँह बाये हुये हैं! जो कीड़ा अपने आसपासकी जमीन, हरी घाससे बिल्कुल अलग रंग रखता है, और इसके कारण दूरसे ही शत्रुकी नजर उसपर गड़ जाती है, ऐसे कीड़ेका जल्दी संहार होना निश्चित है।...उपरोक्त कीड़ोंमें अपने रंगके कारण बचे हुए ये हरे कीड़े वंशको आगे ले जायँगे, गोया प्रकृतिने हरे कीड़ोंको जीनेके लिये चुन लिया है। इसे ही *प्राकृतिक-निर्वाचन* कहते हैं।"

प्रयोजनवादका असल मतलब है आप जगत्को बदलनेका झगड़ा न करें, समाज जैसे चल रहा है, उसे वैसे ही चलने दें। प्रयोजनवादका उद्देश्य है, फाटकसे निकाल बाहर किये ईश्वरको फिरसे खिड़कीके रास्ते ला सिंहासनपर बैठाना।—यह हम यूरोपके प्रयोजनवादियोंकी चाल कह रहे हैं, जो कि अपने इस उद्देश्यको बहुत छिपाकर रखना चाहते हैं।

२. विज्ञानवाद

विज्ञानवादका जिक्र पहिले हो चुका है, किन्तु आँखमें धूल झोंकने-का काम जितना इस दर्शनसे लिया जाता है, उतना दूसरे दर्शनोंसे नहीं। सर राधाकृष्णन् शंकराचार्यके हिमायती होनेके नाते विज्ञानवादका समर्थन करना अपना फर्ज समझेंगे। किन्तु राधाकृष्णन् टूटी नाव हैं, जो उनपर भरोसा करेगा, वह मँझधारमें गिरेगा। हम बतला चुके हैं, कैसे उन्होंने बुद्धिको शंकरके ज्ञानपथसे विचलित कर भक्तिकी शरण लेने-का परामर्श दिया था। बौद्ध दर्शनपर पोचारा पोतते हुए एक जगह वह विज्ञानवाद—भूत भौतिक जगत् असत्, चेतनामय ब्रह्म (मन या विज्ञान) ही सही—के प्रति अपने उद्गारको इस प्रकार निकालते हैं[1]—

"विश्व बिल्कुल ही व्यर्थ, एकदम अ-वास्तविक होता, यदि वह किसी प्रकारसे वास्तविक [ब्रह्म ?] का प्रकाश न निकला। जन्म और

[1] Indian Philosophy vol. I. p. 596.

मरणकी दुनिया अमर [ब्रह्म ?]का प्राकट्य है ।...परम (चरम) वस्तविकता *सर्वसत्व*, वास्तविक तथा काल्पनिक सभी वस्तुओंका आत्मा है ।"

"*सर्वसत्व*" अंग्रेजीकी पुस्तकमें भी यह संस्कृत शब्द लिखा गया है । धरती माता ! फाटो, हम समायें !! "एकां लज्जां परित्यज्य त्रैलोक्य-विजयी भवेत ।" और सर्व-सत्वका अर्थ—"वास्तविक तथा काल्पनिक सभी वस्तुओंका आत्मा" । श्रद्धेय धर्मान्द कौशाम्बी ! आपने बौद्ध शास्त्रोंके पढ़ने-पढ़ानेमें नहीं, धूपमें अपने बाल सफेद किये हैं, यदि इस तत्त्वको नहीं समझा । और भदन्त आनंद कौसल्यायन ! अब भी काशीके दूसरे छोर पर आप अपना दंड-कमंडल रखना चाहते हैं ? यदि हाँ, तो ठीक अर्थ लगाइये—

"सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता" (सर्वे सत्त्वा भवन्तु सुखितात्मानः)
="वास्तविक तथा काल्पनिक सभी वस्तुओंका आत्मा सुखी हो ।"
छंदस् (वेद) के नियमके अनुसार बहुवचनको एकवचन कर देनेसे यही अर्थ ठीक आयेगा ।

और बिहारके राजा मदनपालदेव (११३४–५३ ई०) के सत्रहवें राज्य-संवत्में लिखी पुस्तकके अन्तमें जो "माता-पितृ-पूर्वङ्गमं कृत्वा सकल-सत्त्वराशेनुत्तरज्ञानावासये"[1] लिखा हुआ है, उसमें "सकल सत्त्वराशेः" का अर्थ करना होगा—सभी वस्तुओंके आत्माओंकी राशिका । अब मालूम हुआ न, बुद्ध और बौद्धोंके दर्शन पर कलम चलानेके लिये कितनी हिम्मत चाहिये । हमें आशा है भविष्यके भारतीय दर्शन पर कलम उठानेवाले सारे लेखक सर राधाकृष्णन्की इस "सर्वसत्त्व" की गहरी सूझके लिये कृतज्ञता प्रकट करनेसे कभी बाज न आवेंगे ।

---

[1]देखिये Journal of the Bihar and Orissa Research Society Vol XXI. pt. I. p. 23

राधाकृष्णन्के सर्वसत्त्व (=सारे प्राणी, सारे जलचर, नभचर, पशु, मनुष्य) ने हमारी जानको ही ले छोड़ा था। लेकिन बुद्धने अपने दर्शन-की इतनी नाकाबन्दी की है, खासकर अनात्मवाद और क्षणिकवादके द्वारा, कि सर राधाकृष्णन् कितना ही "वास्तविक", "अमर" या खुद बुद्धके अपने मुँहसे निकले वचन "सर्वसत्त्व" का चोगा पहिनाकर ब्रह्म-वादको वहाँ घुसाना चाहें; बेचारा शङ्करका प्यारा ब्रह्म क्षणिकवादके एक ही प्रहारमें बाप-बाप करता फिर उधर नजर उठाकर देखनेकी भी हिम्मत न करेगा। हमें सर राधाकृष्णन्की इस हिम्मतकी दाद देनी चाहिये, जो कि ऐसी निराशाजनक परिस्थितिमें भी उन्होंने हिम्मत न छोड़ी। इससे एक बात तो साफ है कि वह "जन्म-मरणकी दुनिया" के पीछे "अमर" तत्त्वको सिद्ध करनेपर तुले हुए हैं। आइये हम उनकी मदद करें।

इंग्लैंडका महान् दार्शनिक बर्कले[1] (१६८५-१७५३ ई०)—लार्ड क्लाइवका समकालीन–विज्ञानवादका जबर्दस्त समर्थक था। उसका कहना था—"स्वर्ग...और धरतीके सभी सामान, संक्षेपमें...सभी पिंड मनको छोड़ और किसी द्रव्यके नहीं (बने) हैं।...जब तक मेरे द्वारा वह उपलब्ध (ज्ञात) नहीं होते अथवा मेरे या दूसरे उत्पादित जीवके मनमें अस्तित्व नहीं रखते, तब तक वह या तो अस्तित्व ही नहीं रखते अथवा किसी नित्य आत्मामें अवस्थित हैं।"

बर्कले दार्शनिक होते भी लाट-पादरी था, और आजकलकी दुनिया पादरियोंसे भड़कती बहुत है; इसलिये आइये एक प्रसिद्ध साइंस-वेत्ता, सर जेम्स जीन्सके पास चलें, यद्यपि "सर" होनेसे उनसे जरूर कुछ शंका हो उठेगी; क्योंकि आप जानते हैं पूँजीवाद-शिरोमणि सरकार पैसोंको इस पदवीका पात्र समझती है, तो भी यह बात समझ

---

[1] विशेषके लिये देखिये "दर्शन-दिग्दर्शन"

चाहिये कि जीन्स एक अच्छे गणितज्ञ अच्छे ज्योतिषी—फलितवाले नहीं खाँटे ज्योतिषवाले—रहे हैं। सुनिये, वह क्या कहते हैं[1]—

"मुझे मालूम होता है, आधुनिक साइंस हमें एक बिल्कुल दूसरे रास्तेसे (बर्कलेके मतके) बिल्कुल असमान परिणाम पर नहीं पहुँचा रहा है।..."

"इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, चाहे पदार्थ 'मेरे मनमें या किसी दूसरे उत्पादित जीवनके मनमें अस्तित्व रखते हैं' या नहीं; उनका विषय (गोचर) होना तभी होता है, जब कि वह किसी नित्य आत्माके मनमें अस्तित्व रखते हैं।

"यदि यह सच है कि 'पदार्थोंका वास्तविक सार' [कान्टका वस्तु-अपने-भीतर या वस्तु-सार] हमारे ज्ञानसे परे है; तो वस्तुवाद और विज्ञानवादकी सीमा-विधायक रेखा सचमुच अत्यन्त अस्पष्ट हो जाती है'..., विषयाकार वास्तविकता अस्तित्व रखती है; क्योंकि कुछ वस्तुएँ मेरी और आपकी चेतनाको एक समान प्रभावित करती हैं; किन्तु [ऐसा करके] हम एक ऐसी किसी चीजको मान ले रहे हैं, जिसके मान लेनेका हमें हक नहीं है, यदि हम उसे वास्तविक [वस्तुरूप] या विज्ञानीय [विज्ञान-रूप, मन-रूप] नाम देते हैं। ठीक नाम रखने पर उसे 'गणितीय' कहना चाहिये...।"

सर जेम्स जीन्स जिस वक्त बिशप बर्कलेके साथ आसमानमें उड़ते जा रहे थे, उस वक्त उन्हें डाक्टर जान्सनकी बात याद आ गई। डाक्टर जान्सनने बर्कलेके दर्शनकी बात सुनकर विज्ञानसे पृथक् भौतिक तत्त्वकी सत्ताको साबित करनेके लिये फर्शपर पैर पटककर कहा था—"नहीं, साहेब! मैं इस तरह [पैरसे धरतीकी सत्ताको सिद्ध कर] उसे [विज्ञान-वादको] गलत साबित करता हूँ।"

---

[1]The Mysterious Universe (by Sir James Jeans. Pelican Series April 1940.) pp. 172-75.

सर जेम्स जीन्स डाक्टर जान्सनके खंडनका उत्तर अपनी मुस्कराहट-से देना काफी समझते हैं; क्योंकि डाक्टर जान्सन अपने समयमें जो काम कर गये, उसे ही अब उन्हें नई परिस्थितिमें अंजाम देना है। यदि डाक्टर जान्सन जानते कि धरतीपर लात पटककर वह भौतिकवादको सिद्ध कर रहे हैं, जो कि शोषक प्रभुवर्ग तथा उसकी संस्कृति, सभ्यता, धर्मका जानी दुश्मन है, तो वह कभी वैसी गलती न करते। सर जेम्स जीन्स जानते हैं कि वह जो महान् सेवा कर रहे हैं, उसे उपकृत वर्ग भुला नहीं सकता, इसीलिये आगे बढ़ते हुए कहते हैं—[1]

"आज ज्ञानकी धारा एक अयांत्रिक वास्तविकताकी ओर बढ़ रही है; विश्व एक बड़े यंत्रकी अपेक्षा एक बड़े विचार [कल्पना]सा जान पड़ता है। मन अब भौतिक जगत्में आकस्मिक भटका आया [बटोही] जैसा नहीं मालूम पड़ता; हमें भान होने लगा है कि [पहिली धारणाको हटाकर] हमें भौतिक जगत्के स्रष्टा और शासकके तौरपर उस [मन]का स्वागत करना चाहिये—हाँ, अपने वैयक्तिक मनोंको नहीं; बल्कि उन मनोंको, जिनमें कि परमाणु···विचार [कल्पना]के तौरपर सत्ता रखते हैं।···भौतिक तत्त्व स्वयं···मनकी सृष्टि और प्राकट्य हैं। हमें जाहिर होता है कि विश्व हमारे मनों जैसे एक मनका पता दे रहा है, जो कि (उसकी) योजना बनाता तथा नियंत्रण करता है।"

देखा, सर जेम्स जीन्स कैसे चुपकेसे प्रयोगवादी ह्वाइटहेडके पास पहुँच गये; और इन बूढ़ोंकी मंडलीमें हमारे सर राधाकृष्णन भी शोभा दे रहे हैं! आप इनकी बातोंको आदर्शवाक्य बना अपने बैठकखाने—ड्राइंगरूम—में लगा लीजिये, यदि घरकी लड़कोंको [illegible] नहीं देना चाहते—

विश्वके पीछे वास्तविक अमर "स्वतत्त्व" है—सर राधाकृष्णन
विश्वके पीछे खास प्रयोजन काम कर रहा है—ह्वाइटहेड

[1] वही pp. 186-8.

"एक मन···जो कि [विश्वकी] योजना बनाता तथा नियन्त्रण करता है।"—सर जेम्स जीन्स।

और जर्मन मजदूर डीट्ज़गेन—ये दार्शनिक कहलानेवाले लोग "जनताको अज्ञानमें रखनेके लिये अपने झूठे विज्ञानवादको इस्तेमाल कर रहे हैं।"[1]

इसके उत्तरमें प्रोफेसर लेवीने जली-कटी सुना इन बूढ़े शोषणके समर्थकोंको जो उत्तर दिया है, उसे हम पहिले उद्धृत कर चुके हैं। नई पीढ़ीका दूसरा दार्शनिक जान लेविस् कहता है[2]—

"विना एक कल्पना (विज्ञान)के चूँकि हम किसी वस्तुको नहीं जान सकते, इसका यह अर्थ हर्गिज नहीं कि हम सिर्फ कल्पनाको ही जानते हैं। ज्ञानका अस्तित्व ही साबित करता है, कि ज्ञाता और ज्ञेय भी अस्तित्व रखते हैं। चूँकि विना उसकी कल्पना किये हम बाह्य (भौतिक) जगत्का चिन्तन नहीं कर सकते, इसका अर्थ यह नहीं कि तुम जो कुछ अनुभव करते हो, वह सिर्फ अपनी कल्पनाका ही करते हो। हम अपने प्रथम (इन्द्रिय-) प्रत्यक्ष में खुद प्रकृति (भौतिकतत्त्व)को ही जानते हैं। (यह ठीक है) हम उसे पूर्णतया नहीं जानते, और न उसके बारे में सब कुछ जानते हैं, किन्तु हम यह जानते हैं, कि वह है।"

यदि आप विज्ञानवादकी नब्ज ढूँढ़ें, तो मालूम होगा—उसका आज कल सबसे बड़ा काम है साइंससे प्राप्त होनेवाले ज्ञानके प्रति संदेह पैदा करना—सापेक्ष बतलाना नहीं, क्योंकि सापेक्षताको तो साइंस स्वयं स्वीकार करता है। दूसरा काम है प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे धर्मको हस्तावलम्ब देना ; इसे सर जेम्स जीन्सके "मन" में हम अभी देख चुके हैं।

॥ समाप्त ॥

---

[1] Lenin: Materalism में उद्धृत ।

[2] Introduction to Philosophy (Golancz 1937) pp. 50-51

पारिभाषिक शब्द-सूची

Absolute—परम, परमार्थ, परमतत्त्व
Abstract—निराकार, कल्पनामय
Analysis—विश्लेषण
Anti-thesis प्रति-वाद
Atheism नास्तिकवाद, अनीश्वरवाद
Atom—परमाणु
Atomism परमाणुवाद
Automachine—स्वयंवह-यंत्र, स्वचालितयंत्र
Bacteria—बैक्टीरिया
Capitalism—पूंजीवाद
Capitalist—पूंजीवादी, पूंजीपति
Causality—कार्य-कारण-संबंध, हेतुवाद, हेतुता
Cause—हेतु, कारण
Cave-man—गुहा-मानव
Cell—सेल्, जीव-कोष
Change—परिवर्त्तन
Changeability—परिवर्त्तनशीलता
Changeable—परिवर्त्तनशील
Character—स्वरूप, स्वभाव, लक्षण
Communism—साम्यवाद
Communist — साम्यवादी, कमूनिस्त
Contemplation—चिन्तन
Content—सार
Conservative—अनुदार
Continuity प्रवाह, सन्तति, सन्तान
Continuity, Discontineous—विच्छेद-युक्त प्रवाह, विच्छिन्न प्रवाह
Co-operative — सम्मिलित, साझी
Determinism—नियतिवाद, भाग्यवाद
Dialectical Materialism—द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, द्वन्द्विक भौतिकवाद, वैज्ञानिक-भौतिकवाद
Dialectics—द्वंद्ववाद, द्वंद्वात्मकवाद
Effect—कार्य

Electron एक्लेट्रन, Negotron
Element—तत्त्व, मूल तत्व
Ethics—आचार, शास्त्र
Events—घटना
Eorm—आकृति
Genus जनक, जनक-बीज, जेनस्
Group-marriage–यूथ-विवाह
Heredity—आनुवंशिकता
Humanity—मानवता
Hydrogen—हाइड्रोजन
Idealism—विज्ञानवाद, चेतना-वाद, मनोवाद
Individual—व्यक्ति, वैयक्तिक
Individualism—व्यक्तिवाद
Interpenetration of opposites—विरोधि-अन्तर्व्यापन
Liberalism—उदारवाद
Life—जीवन
Logic—तर्कशास्त्र
Materialism—भौतिकवाद
,, ,, Dialectical—द्वंद्वात्मक (वैज्ञानिक) भौतिकवाद
,, ,, Mechanical—यांत्रिक भौतिकवाद
Materialism, Scientific—वैज्ञानिक भौतिकवाद
Matter—भूत, भौतिक तत्व
Mechanical materialism—यांत्रिक भौतिकवाद
Metaphysician—अति-भौतिक शास्त्री, अतिभौतिकवादी, अध्यात्मवादी
Mind—मन, विज्ञान
Morality—आचार-विचार, सदाचार
Motion—गति
Mutation—जाति-परिवर्त्तन
Natural law—प्राकृतिक नियम
Natural selection—प्राकृतिक निर्वाचन
Nature—प्रकृति
Negation—प्रतिषेध
Negation of negation—प्रतिषेधका प्रतिषेध
Negative—ऋण
Negotron—नेगोट्रन=एलेक्ट्रन का नया नाम, ऋणात्मक बिजली (परमाणुके गर्भमें)
Neutron—न्युट्रन (परमाणुके गर्भमें)
Objective—साकार, बाह्य, विषयाकार

Pantheism—शारीरक ब्रह्मवाद
Perception—प्रत्यक्ष, उपलब्धि
Phenomena—प्रतीयमान जगत् प्राकृतिक जगत्, बाह्य जगत्,
Philosophy—दर्शन, दृष्टि
Polyandry—बहुपति-विवाह
Polygamy—बहुपत्नि-विवाह
Positive—धन
Positron—पोजिट्रन (परमाणु के गर्भ में)
Practice—प्रयोग
Pragmatism — प्रभाववाद, मनुष्य-माप-वाद
Probability—प्रायिकता
Process—घटना-प्रवाह
Proton—प्रोटन (परमाणु के गर्भ में)
Qualitative change—गुणात्मक परिवर्त्तन
Quality—गुण
Quantity—परिमाण, मात्रा
Reaction—प्रतिक्रिया, प्रतिगामिता
Realism—वस्तुवाद
Reality—वास्तविकता
Reflaction— मानस-प्रतिबिंब
Reflex—झलक, प्रतिबिंब
Relative—सापेक्ष
Relativity—सापेक्षता
Religions—धर्म, मजहब
Scholastic—मतवादीय
Science—साइंस, विज्ञान
Scientific law— वैज्ञानिक नियम
Scientific materialism—वैज्ञानिक भौतिकवाद
Secular—संसारी
Sensation—वेदना
Slogan—नारा, घोष
Socialism—समाजवाद
Soul—आत्मा
Sovereign— मूर्धाभिषिक्त, अ-परतंत्र
Spirit—आत्मा
Struggle—संघर्ष
Synthesis—संवाद, संश्लेषण
Technique—यंत्रचातुरी
Teleology—प्रयोजनवाद
Temperature—तापमान
Theology—देवशास्त्र,धर्मशास्त्र
Theory—सिद्धान्त, वाद
Thesis—वाद

Truth—सत्य
Unity of opposites—
विरोधि-समागम, विरोध-समागम
Universal—जाति, सामान्य
Universe—विश्व, जगत्
Utiliterianism उपयोगितावाद
Veladity of knowledge—
प्रामाण्य, ज्ञानकी प्रामाणिकता
Virus—विरस्
White lodge—श्वेत-परिषद्
(थ्योसोफी)
Whole—अवयवी, संपूर्ण

ग्रंथ-सूची

Karl Marx	Thesis on Feurebach, Capital, On Hegel's philosophy of Law
Fredrich Engels	Anti-Duhring (Ludwig Feuerbach), Socialism : Scientific and Utopian
Marx and Engels	German Ideology Holi Family
Lenin	Materialism and Empireo-criticism
Hegel	Science of Logic
Ludwig Feurebach	Atheism Essence of Christianity
Voltair	Philosophical Dictionary
H. Levy	Philosophy for a Modern Man
John Lewis	Introduction to Philosophy
Devid Guest	Dialectical Materialism
T. A. Jackson	Dialectics (1938)
J. B. S. Haldane	Marxist Philosophy and Sciences (1938)
Sir James Jeans	Mysterious Universe

Dr. S. Radhakrishnan	Indian philosophy, 2 vols.
धर्मकीर्ति	प्रमाणवार्त्तिक
शान्तिदेव	बोधिचर्यावतार
श्रीहर्ष	खंडनखंडखाद्य
अलबेरूनी	अल्-हिन्द
बुद्ध	दीघ-निकाय (हिन्दी)
"	मज्झिम-निकाय (हिन्दी)
	विनय-पिटक (हिन्दी)
राहुल सांकृत्यायन	बुद्धचर्या
	विश्वकी रूपरेखा
	मानव-समाज
	दर्शन-दिग्दर्शन
भगवद्गीता	
महाभारत	